विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक ५ मई २००५ मूल्य रु.६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

|| सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।। ||
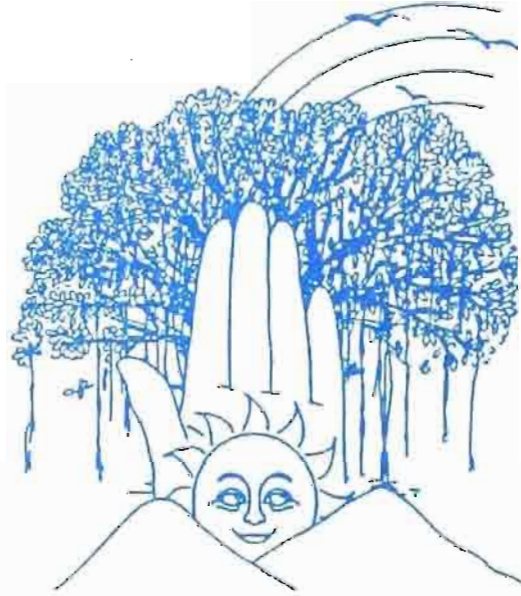
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

ये सन्तोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो
ये त्वन्ये धनलुब्धसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता ।
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना कीदृक् पदं सम्पदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ।।२९।।

अन्वय – ये सन्तोष-निरन्तर-प्रमुदिताः तेषां मुदः भिन्ना न, अन्ये तु ये धन-लुब्ध-संकुल-धियः तेषां तृष्णा हता न । इत्थं सम्पदाम् कीदृक्-पदं स्व-आत्मनि एव समाप्त-हेम-महिमा विधिना कस्य कृते कृतः सः मेरुः मे न रोचते ।।

भावार्थ – जो लोग दैवलब्ध जो भी मिल जाय, सदा उसी में सन्तुष्ट रहते हैं, उनका आनन्द कभी विच्छिन्न नहीं होता, बल्कि बढ़ता जाता है । और बाकी लोग जिनका चित्त धन-लोभ से आकुल है, उनकी तृष्णा दूर नहीं होती, बल्कि बढ़ती जाती है । ऐसी स्थिति में स्वयं में ही स्वर्ण-महिमा से महिमान्वित परम सम्पदा के भण्डार – मेरु पर्वत को ब्रह्मा ने किसके लिए बनाया है? ऐसा वह मेरु पर्वत मुझे तो जरा भी नहीं रुचता । (क्योंकि उससे न तो सन्तोषी व्यक्ति के सुख में वृद्धि होती है और न ही लोभी की तृष्णा ही शान्त होती है ।

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिसुखं भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम् ।
सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शंभोः सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसन्ति योगीश्वराः ।।३०।।

अन्वय – अदैन्यम् भिक्षा-आहारम् अ-प्रति-सुखम् सर्वतः भीतिच्छिदम्, दुः-मात्सर्य-मद-अभिमान-मथनम् दुःख-ओघ-विध्वंसनम्, सर्वत्र-अनु-अहम् अ-प्रयत्न-सुलभम् साधु-प्रियम् पावनम् अवार्यम् अक्षय-निधिम् शंभोः सत्रम् योगीश्वराः शंसन्ति ।।

भावार्थ – भिक्षा का भोजन दैन्यरहित है, अति सुखकारी है, सर्व प्रकार के भयों को मिटाता है, ईर्ष्या-मद-अभिमान आदि दुर्गुणों को दूर करता है, दुखों के प्रवाह का नाश करता है, सर्वत्र प्रतिदिन सहज ही प्राप्त होता है, पवित्र है और साधुजन का प्रिय है । यह भगवान शिव का खुला हुआ सदाव्रत का अक्षय कोष है, अतः महान् योगीगण इसकी प्रशंसा करते नहीं थकते ।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(दरबारी-कान्हरा-कहरवा)

हे करुणामय भगवान ।
तरसाओ मत अपने जन को, करो दरस का दान ।।

तज दुखदायिनी जग की माया, सुख पाने चरणों में आया ।
प्रज्ञादीप जलाकर मेरा, दूर करो अज्ञान ।। हे...

भवपीड़ा से त्रस्त बिचारे, पड़े हुए हम द्वार तुम्हारे ।
अब तो अपनी गोद उठाओ, और करो कल्याण ।। हे...

तुम ही शैशव की जननी हो, वृद्धावस्था की टहनी हो ।
सभी सहारे इस जीवन के, करते तुम्हीं प्रदान ।। हे...

बिना तुम्हारे व्यर्थ सकल है, सूना जीवन का प्रतिपल है ।
अन्तर में निज रूप दिखाकर, तृप्त करो मम प्राण ।। हे...

नाम-मधुर अति सुन्दर काया, अब 'विदेह' का चित्त लुभाया।
'परमहंस' को पाकर अपना, पूर्ण हुआ सन्धान।। हे...

– २ –

(भैरवी–रूपक)

दर तुम्हारे आए ठाकुर, दर तुम्हारे आए हम ।
रौशनी अब दिख रही है, मिट रहा अज्ञान-तम ।।

आ गए हैं छोड़कर हम, दोषमय संसार को,
अब तुम्हीं स्वीकार कर लो, गुरु हमारे भार को ।
प्रार्थना सुन लो जरा-सी, दूर कर दो मोह-भ्रम ।।

नाम लेते ही रहेंगे, सर्वदा हर हाल में,
गति तुम्हारी ओर होगी, प्रति हमारे चाल में ।
भूल सकते हैं न तुमको, जब तलक प्राणों में दम ।।

सर्वथा निश्चिन्त हैं हम, पा अहैतुक तव कृपा,
बाल भी बाँका न होगा, जब तुम्हीं रक्षक सदा ।
भय नहीं है, अब हमें तो, आ भी जाए चाहे यम ।।

– *विदेह*

उद्देश्य : (२) मनुष्य-निर्माण

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमशः उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

अतीत भारत की कार्य-कुशलता

भारतीय इतिहास हमें बताता है कि भारतवर्ष सदैव ही अत्यधिक क्रियाशील रहा है। आजकल हमें पढ़ाया जा रहा है कि हिन्दू जाति सदैव से भीरु तथा निष्क्रिय रही है और यह बात विदेशियों में तो एक प्रकार से कहावत के रूप में ही प्रचलित हो गई है। मैं इस विचार को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता कि भारत कभी निष्क्रिय रहा है। सत्य तो यह है कि जितनी कर्मठता हमारे इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में रही है, उतनी शायद ही अन्यत्र कहीं रही हो और इस कर्मठता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमारी यह चिर प्राचीन महान् हिन्दू जाति आज भी ज्यों-की-त्यों जीवित है।[१०१]

हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की जरूरत है, जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांगपूर्ण शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।[१०२] इस समय हमारे देश को जरूरत है लोहे की भाँति ठोस मांस-पेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की। जरूरत है ऐसी दृढ़ इच्छाशक्ति की, जिसे कोई रोकने में समर्थ न हो, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि इस कार्य को करने के लिए अथाह समुद्र-तल में जाना पड़े, सदा सब प्रकार से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह करना ही होगा।

अन्धविश्वासों को त्यागकर सबल बनो

मैं तुम लोगों से स्पष्ट भाषा में कहता हूँ कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम-से-कम हमारे एक तिहाई दुखों का कारण है। हम आलसी हैं, हम कार्य नहीं कर सकते; हम आपस में मिल-जुल नहीं सकते, हम एक-दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम घोर स्वार्थी हैं; हम तीन व्यक्ति एकत्र होते ही एक-दूसरे से घृणा करते हैं, आपस में ईर्ष्या करते हैं।[१०३] हमारी इस समय ऐसी हालत है कि हम पूर्ण रूप से असंगठित हैं घोर स्वार्थी हो गये हैं, सैकड़ों शताब्दियों से इसी बात पर विवाद कर रहे हैं कि तिलक इस तरह धारण करना चाहिये या उस तरह, अमुक व्यक्ति की नजर पड़ने से हमारा भोजन दूषित होगा या नहीं।[१०४] ऐसे अनावश्यक प्रश्नों की मीमांसा और उन पर अत्यन्त शोधपूर्ण दर्शन लिख डालनेवाले पण्डितों से तुम और क्या आशा कर सकते हो? हमारे धर्म के लिए भय की बात यही है कि वह रसोईघर में घुसकर उसी में आबद्ध रहेगा। ... जब मन की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी क्रिया-शीलता उसकी चिन्तन-शक्ति जाती रहती है, तब उसकी सारी मौलिकता नष्ट हो जाती है। फिर वह छोटे-से-छोटे दायरे के भीतर चक्कर लगाता रहता है।[१०५] तुममें से प्रत्येक व्यक्ति अन्धविश्वासी मूर्ख होने की जगह यदि घोर नास्तिक भी हो, तो वह मुझे पसन्द होगा, क्योंकि नास्तिक तो जीवन्त है, तुम उसे किसी प्रकार बदल सकते हो; परन्तु यदि अन्धविश्वास घुस जायँ, तो मस्तिष्क बिगड़ जायेगा, दुर्बल हो जायेगा और व्यक्ति विनाश की ओर अग्रसर होने लगेगा। तो इन दो संकटों से बचो।[१०६]

प्रथम तो हमारे युवकों को सबल बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवक बन्धु, तुम बलवान बनो – यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता-पाठ की जगह फुटबाल खेलने से स्वर्ग तुम्हारे कहीं अधिक निकट होगा। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कहीं हैं और इनको कहना बड़ा आवश्यक है, क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किये हैं। बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुटठों से तुम गीता को कहीं अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम स्वयं को मनुष्य समझोगे, तभी तुम भलीभाँति उपनिषद् और आत्मा की महिमा समझोगे।[१०७] हमें निर्भीक और साहसी व्यक्तियों की जरूरत है। खून में तेजी और स्नायुओं में बल की जरूरत है – लोहे के पुटठे और फौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बल बनानेवाले वाहियात विचार। इन सबको त्याग दो, सब प्रकार के रहस्यों से बचो। ... हर बात में रहस्यमयता और अन्धविश्वास – ये सदा दुर्बलता के ही लक्षण होते हैं। ये अवनति और मृत्यु के ही चिह्न हैं। इसलिए उनसे बचे रहो, बलवान बनो और अपने पैरों पर खड़े हो जाओ।[१०८]

भारत के बाहर जाओ और शिक्षा के कुफल की प्राप्ति

तुम्हारे भीतर अदम्य शक्ति है तू तो 'मैं कुछ नहीं' सोच-सोचकर निर्बल बने जा रहे हो। तुम्हीं क्यों? – सारी जाति ही ऐसी बन गयी। एक बार घूमकर देख आओ कि भारत के बाहर लोगों के 'जीवन-प्रवाह' कैसे आनन्द से, सरलता से, प्रबल वेग के साथ बह रहा है।[१०९] और तुम लोग क्या कर रहे हो? जीवन भर केवल बेकार की बातें किया करते हो। ... सठियाई बुद्धिवालो, देश से बाहर निकलते ही तो तुम्हारी जाति चली जायेगी! अपनी खोपड़ी में सदियों के अन्धविश्वास का कूड़ा-कर्कट भरे बैठे, हजारों वर्षों से केवल आहार की शुद्धि-अशुद्धि के झगड़े में अपनी शक्ति नष्ट करनेवाले, सैकड़ों युगों के सामाजिक अत्याचार से जिनकी सारी मानवता का अस्त हो चुका है, जरा बताओ तो सही, तुम कौन हो? और इस समय तुम कर भी क्या रहे हो? मूर्खो, हाथ में किताब लिये तुम केवल समुद्र के किनारे घूम रहे हो, यूरोपियनों के मस्तिष्क से निकली हुई बातों को लेकर बिना-समझे दुहरा रहे हो। तीस रुपयों की मुंशीगिरी के लिए या बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़प रहे हो। यही तो भारत के नवयुवकों की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा है। और फिर इन विद्यार्थियों के भी झुण्ड-के-झुण्ड बच्चे पैदा हो जाते हैं, जो भूख से त्रस्त हुए, उन्हें घेरकर 'बाबा, खाने को दो, खाने को दो' – कहकर चीत्कार करते रहते हैं। क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि तुम अपने विश्वविद्यालय के डिप्लोमा, गाऊन तथा पुस्तकों के साथ उसमें डूब मरो?

आओ, मनुष्य बनो। ... अपने सँकरे अन्धकूप से बाहर निकलो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, बाकी सब देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं।[११०] और तुम लोग क्या कर रहे हो? ... इतनी विद्या सीखकर दूसरों के द्वार पर भिखारियों की भाँति 'नौकरी दो, नौकरी दो' कहकर चिल्ला रहे हो। दूसरों की ठोकरें खाते हुए – गुलामी करके भी तुम लोग क्या अब मनुष्य रह गये हो? तुम लोगों का मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। ऐसी सुजला-सुफला भूमि में जन्म लेकर भी, जहाँ प्रकृति अन्य सभी देशों से करोड़ों-गुना अधिक धन-धान्य पैदा कर रही है, तुम लोगों के पेट में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं! जिस देश के धन-धान्य ने पृथ्वी के बाकी सभी देशों में सभ्यता का विस्तार किया है, उसी अन्नपूर्णा के देश में तुम लोगों की ऐसी दुर्दशा! तुम लोग घृणित कुत्तों से भी बदतर हो गये हो! और फिर भी अपने वेद-वेदान्त की डींग हाँकते हो! जो राष्ट्र आवश्यक अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता और दूसरों के मुँह की ओर ताकते हुए ही जीवन बिता रहा है, उस राष्ट्र का गर्व! धर्म-कर्म को तिलांजलि देकर पहले जीवन-संग्राम में कूद पड़ो। भारत में कितनी चीजें पैदा होती हैं। विदेशी लोग उसी कच्चे माल से 'सोना' पैदा कर रहे हैं। और तुम लोग भारवाही गधों की तरह उनका माल ढोते-ढोते मरे जा रहे हो। भारत में जो चीजें पैदा होती हैं, विदेशी उन्हीं को ले जाकर अपनी बुद्धि से तरह-तरह की चीजें बनाकर समृद्ध बन गये; और तुम लोग! अपनी बुद्धि सन्दूक में बन्द करके घर का धन दूसरों को देकर 'हा अन्न', 'हा अन्न' करते हुए भटक रहे हो![१११]

उपाय तुम्हारे हाथों में ही है। आँखों पर पट्टी बाँधकर कह रहे हो, 'मैं अन्धा हूँ, देख नहीं सकता।' पट्टी हटा दो, देखोगे, मध्याह्न सूर्य की किरणों से जगत् आलोकित हो रहा है। रुपये नहीं जुटा सकते तो, जहाज के खलाशी बनकर विदेश चले जाओ। देशी वस्त्र, गमछे, सूप, झाड़ू आदि सिर पर रखकर अमेरिका-यूरोप की सड़कों और गलियों में घूम-घूमकर बेचो। देखोगे कि भारत की इन चीजों का आज भी वहाँ कितना मूल्य है। हुगली जिले के कुछ मुसलमान अमेरिका में ऐसा ही व्यापार कर धनवान बन गये हैं। क्या तुम लोगों की विद्या-बुद्धि उनसे भी कम है? देखो, इस देश में जो बनारसी साड़ी बनती है, उसके समान बढ़िया कपड़ा पृथ्वी-भर में और कहीं नहीं बनता। इस कपड़े को लेकर अमेरिका चले जाओ। वहाँ इस वस्त्र से स्त्रियों के गाउन बनवाने में लग जाओ, फिर देखो कितने रुपये आते हैं![११२]

भौतिक विज्ञान और संगठन

दूसरी जातियों से सम्भवत: हमें भौतिक विज्ञान सीखना होगा। यह भी सीखना होगा कि कैसे दल का संगठन और परिचालन हो, कैसे विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर थोड़े यत्न से अधिक लाभ हो, आदि आदि।[११३]

भारत में प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है, आज्ञा-पालन करनेवाला कोई भी नहीं है। आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-पालन सीखना होगा। हमारी ईर्ष्याओं का अन्त नहीं और यहाँ जो व्यक्ति जितना महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और बड़ों की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखते, तब तक उनमें संगठन की क्षमता नहीं आ सकती।[११४] संघबद्ध होकर कार्य करने की प्रवृत्ति का हमारे स्वभाव में पूर्ण अभाव है, उसका विकास करना होगा। इसका सबसे बड़ा रहस्य है – ईर्ष्या न होना। सदैव अपने भाइयों के विचारों को मान लेने के लिए प्रस्तुत रहो और हमेशा उनसे मेल बनाये रखने की कोशिश करो।[११५]

राष्ट्रीय पद्धति से शिक्षा

विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु। हमारी मृत्यु उसी दिन से शुरू हो गई, जिस दिन से हम अन्य जातियों से घृणा करने लगे। इस मृत्यु को रोकने का एकमात्र उपाय है, पुन: उसी विस्तार को

अपनाना, जो जीवन का चिह्न है। अत: हमें पृथ्वी की सभी जातियों से मिलना पड़ेगा।[११६] पाश्चात्य जातियों से हम भोग के विषय में थोड़ा-बहुत यह सीख सकते हैं, पर यह शिक्षा ग्रहण करते समय हमें खूब सावधान रहना होगा। मुझे बड़े दुख से कहना पड़ता है कि आजकल हम पाश्चात्य भावनाओं से अनुप्राणित लोगों के जितने उदाहरण पाते हैं, वे अधिकांश असफलता के हैं। इस समय भारत में हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं – एक ओर तो है हमारा प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर वर्तमान यूरोपीय सभ्यता। इन दोनों में यदि कोई मुझसे एक को पसन्द करने के लिए कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू समाज को ही पसन्द करूँगा, क्योंकि अज्ञ होने भी, अपक्व होने पर भी कट्टर हिन्दुओं के हृदय में एक विश्वास है, एक बल है – जिससे वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किन्तु विलायती रंग में रँगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदण्ड-विहीन होता है, वह इधर-उधर के विभिन्न स्रोतों से वैसे ही एकत्र किये हुए अपरिपक्व, विशृंखल, बेमेल भावों की असन्तुलित राशि मात्र है। वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता, उसका सिर हमेशा चक्कर खाया करता है। ... प्राचीन पथ के पथिकगण कट्टर होने के बावजूद 'मनुष्य' थे – उन लोगों में एक दृढ़ता थी। पर ... ये असन्तुलित प्राणी अभी तक निश्चित व्यक्तित्व नहीं ग्रहण कर सकें हैं; और हम इनको क्या कहें – स्त्री, पुरुष या पशु![११७] इसलिए हमारा आदर्श यह होना चाहिये कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिक तथा लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले लें और जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का विस्तार करें।[११८]

जिन लोगों के देश का कोई इतिहास नहीं है, उनका कुछ भी नहीं है। जरा सोचो तो सही, जिसमें इस बात का विश्वास तथा गर्व रहता है कि 'मैं इतने बड़े वंश की सन्तान हूँ', वह क्या कभी बुरा हो सकता है? बोलो, कैसे होगा? उसका वही विश्वास उसका लगाम ऐसा खींचे रहेगा कि मरते दम तक वह कोई बुरा कार्य नहीं कर सकेगा। वैसे ही एक राष्ट्र का इतिहास उसकी लगाम खींचे रहता है, उसे नीचा नहीं होने देता। ... तुम्हारे देश का इतिहास जैसा चाहिये था, वैसा ही है। जिनके पास आँखें हैं, वे लोग उसी ज्वलन्त इतिहास के बल पर आज भी सजीव हैं।[११९] मुझे अपने प्राचीन पूर्वजों के गौरव में गौरव का बोध होता है। मैंने अतीत का जितना ही अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूत काल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही अधिक यह गर्व मुझमें आता गया है। इस विश्वास से प्राप्त दृढ़ता और साहस ने मुझे धरती की धूलि से ऊपर उठाया है और मैं अपने उन महान् पूर्वजों द्वारा निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ। हे उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तति! ईश्वर करें कि तुम लोगों के हृदय में भी वह गर्व उत्पन्न हो जाय, अपने पूर्वजों के प्रति वही विश्वास तुम लोगों के रक्त में भी दौड़ने लगे, वह तुम्हारे जीवन में मिलकर एक हो जाय और संसार के उद्धार के लिए कार्यशील हो![११९] तुम लोग पूर्णत: सम्मोहित हो चुके हो। काफी समय से लोग तुम्हें बताते रहे हैं कि तुम हीन हो, तुममें कोई शक्ति नहीं – और तुम भी यह सुनकर पिछले हजार वर्षों से यह सोच रहे हो कि हम हीन हैं, सब प्रकार से निकम्मे हैं। (अपने शरीर की ओर इंगित करते हुए) यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है, परन्तु मैंने कभी वैसा नहीं सोचा। इसीलिए देखो, उनकी (ईश्वर) इच्छा से, जो लोग हमको चिर काल से हीन मानते रहे हैं, उन्होंने ही मेरा देवताओं के जैसा सम्मान किया है और कर रहे हैं। तुम लोग भी यदि वैसा ही सोच सको कि 'मुझमें अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह विद्यमान है' और अपने भीतर की उस शक्ति को जगा सको, तो तुम लोग भी मेरे ही समान हो सकोगे।[१२१] चालाकी द्वारा कोई महान् कार्य सम्पन्न नहीं होता। प्रेम, सत्यानुराग तथा महाशक्ति की सहायता से ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। **तदा कुरु पौरुषम्** – अत: पौरुष दिखाओ।[१२२]

पुरखों की थाती

अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलम् अनौषधम्।
अयोग्य: पुरुष: नास्ति योजक: तत्र दुर्लभ: ।।

– ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है, जो मंत्र न हो; कोई भी ऐसा कन्द-मूल नहीं है, जो दवा न हो; कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो योग्य न हो; परन्तु उन सभी को समझकर काम में लानेवाले अति दुर्लभ हैं।

अनित्यानि शरीराणि विभव: नैव शाश्वत: ।
नित्यं सन्निहित: मृत्यु: कर्तव्य: धर्मसंग्रह: ।।

– जब देह अनित्य है, धन-वैभव भी चिर काल तक नहीं रहनेवाले हैं और मृत्यु सदैव विद्यमान है, तो फिर धर्म का उपार्जन ही एकमात्र कर्तव्य है।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

– भगवान वेदव्यास ने सभी अट्ठारह पुराणों में जो कुछ कहा है, उसका सार दो बातों में कहा जा सकता है और वह यह है कि परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना पाप।

शरीर तथा मन

मस्तिष्क और मांसपेशियाँ समान रूप से विकसित होनी चाहिये। फौलादी शरीर हो और साथ ही तीक्ष्ण बुद्धि भी हो, तो सारा संसार तुम्हारे समक्ष नतमस्तक हो जायेगा।[१२३] मैं जो चाहता हूँ, वह है लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु जिनके भीतर ऐसा मन निवास करता हो, जो वज्र-समान पदार्थ का बना हो। बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज![१२४]

मस्तिष्क को ऊँचे-ऊँचे विचारों, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो। और उन्हें दिन-रात अपने मन से सामने जाग्रत रखो। तो फिर उसी से महान् कार्य होंगे। अपवित्रता के बारे में कुछ भी मत कहना, मन से कहते रहो – हम शुद्ध और पवित्रता-स्वरूप हैं। हम लोग निकृष्ट हैं, हम जन्मे है, हम मरेंगे – इन्हीं विचारों से हमने अपने आपको बिल्कुल अभिभूत कर डाला है और इसी कारण हम सर्वदा ही इस प्रकार भय से आतंकित बने रहते हैं।

जैसा भाव वैसा लाभ

मेरा दृढ़ विश्वास है और मैं तुम लोगों से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ कि जो व्यक्ति स्वयं को दीन-हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। वास्तव में यदि कोई दिन-रात अपने को दीन-हीन तथा 'कुछ नहीं' समझता है, तो वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है। यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है', तो तुममें शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि मैं 'कुछ नहीं' हूँ, दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' बन जाओगे। यह महान् तत्त्व तुम्हें सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उन्हीं सर्व-शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – हम भला 'कुछ नहीं' कैसे हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं और हमें सब कुछ करना ही होगा। हमारे पूर्वजों के हृदय में यह आत्मविश्वास था। इस आत्मविश्वास-रूपी प्रेरणा-शक्ति ने ही उन्हें सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढ़ी पर पहुँचाया था। और अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हममें दोष आया हो, तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना वह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हुई।[१२५] दीन-हीन भाव फूँक मारकर विदा कर दो। सब अच्छा हो जायेगा। No negative, all positive, affirmative – I am, God is and everything is in me. I will manifest health, purity, knowledge, whatever I want. (जरा भी 'नास्ति' भाव न रहे, सब 'अस्ति' का बोधक हो – यथा, मैं हूँ, ईश्वर हैं और सब कुछ मेरे भीतर है। जो भी चाहिए – स्वास्थ्य, पवित्रता, ज्ञान – सब मैं अपने भीतर से अभिव्यक्त करूँगा।)[१२६]

जगत् में इच्छाशक्ति ही अमोघ शक्ति है। प्रबल इच्छा-शक्ति का अधिकारी व्यक्ति अपने चारों ओर एक ऐसी ज्योतिर्मयी प्रभा फैला देता है कि दूसरे लोग स्वत: उस प्रभा से प्रभावित होकर उसके भाव से प्रेरित हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष अवश्य ही प्रकट हुआ करते हैं। और उसके पीछे भावना क्या है? जब वे आविर्भूत होते हैं, तब उनके विचार हम लोगों के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और हममें से कितने ही लोग उनके विचारों तथा भावों को अपनाकर शक्तिशाली बन जाते हैं। ... संगठन ही शक्ति का मूल है। ... अत: यदि भारत का भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसका मूल रहस्य है संगठन, शक्ति-संग्रह और बिखरी हुई इच्छा-शक्ति एकत्र करके उनका सम्मिलन कराना। और इस समय मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष ऋग्वेद-संहिता का वह अपूर्व मंत्र भासित हो रहा है –

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।। (१०/१९१/२)

– "तुम सभी लोग एक मन हो जाओ, सभी एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीन काल में एकमन होने के कारण ही देवतागण यज्ञ-भाग पाने में समर्थ हुए थे। देवतागण एकचित्त होने के कारण ही मनुष्यों के उपास्य हुए हैं।" यह एकचित्त हो जाना ही समाज-गठन का रहस्य है।[१२७]

सन्दर्भ-सूची –

१०१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ३५; **१०२**. वही, खण्ड ५, पृ. ११९-२०; **१०३**. वही, खण्ड ५, पृ. १३७, ८६; **१०४**. वही, खण्ड खण्ड ५, पृ. १३७; **१०५**. वही, खण्ड ५, पृ. ६४; **१०६**. वही, खण्ड ५, पृ. १७२ **१०७**. वही, खण्ड ५, पृ. १३७ **१०८**. वही, खण्ड ५, पृ. १७२; **१०९**. वही, खण्ड ६, पृ. १०९; **११०**. वही, खण्ड १, पृ. ३९८-९९; **१११**. वही, खण्ड ६, पृ. १०४; **११२**. वही, खण्ड ६, पृ. १०४-५; **११३**. वही, खण्ड ५, पृ. ४५; **११४**. वही, खण्ड ४, पृ. २५५; **११५**. वही, खण्ड २, पृ. ३८१-८२; **११६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **११७**. वही, खण्ड ५, पृ. ४७; **११८**. वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **११९**. उद्बोधन, वर्ष ७, पृ. २६१; **१२०**. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. २५९-६०; **१२१**. वही, खण्ड ६, पृ. १४; **१२२**. वही, खण्ड ६, पृ. ८७; **१२३**. वही, खण्ड ६, पृ. १८; **१२४**. वही, खण्ड ५, पृ. ३९८; **१२५**. वही, खण्ड ५, पृ. २६७; **१२६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३१३; **१२७**. वही, खण्ड ५, पृ. १९१-९२

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी।
बानी मधुर अमिअ रस बोरी।।
सुनहु राम अब कहउँ निकेता।
जहाँ बसहु सिय लखन समेता।।
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम कहुँ गृह रूरे।।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।।
तिन्ह कें हदय सदन सुखदायक।
बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।।
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन-गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु।।
(अयोध्या-काण्ड, १२८/२-८)

भगवान राम चित्रकूट जाने के पूर्व महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं। महर्षि द्वारा उनका स्वागत किया जाता है। और तत्पश्चात् दोनों के बीच जो वार्तालाप हुआ, वही इन पंक्तियों में आपके सामने पढ़ा गया। भगवान ने महर्षि से पूछा – "मैं अपने निवास के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में हूँ, आप कृपा करके बताइए कि मैं कहाँ निवास करूँ?"

इस पर महर्षि मुस्कराए, क्योंकि उन प्रश्नों को वे उस स्तर पर नहीं लेते। साधारण व्यक्तियों में जब संवाद होता है, तो गम्भीरता की चेष्टा करने पर भी उसमें हलकापन आ जाता है। और जब महापुरुष बातें करते हैं, तो उनके हास्य-विनोद में भी इतनी गहराई तथा गम्भीरता होती है कि उससे भी एक विलक्षण आनन्द और रस की अनुभूति होती है।

आगे चलकर महर्षि ने भगवान राम से यही कहा कि आप चित्रकूट पर्वत पर निवास कीजिए। चित्रकूट में मन्दाकिनी की दिव्य धारा है, कामद गिरि है, वन है और वहाँ अनेक साधक तथा मुनि निवास करते हैं। परन्तु यह उत्तर महर्षि ने अन्त में दिया। प्रारम्भ में तो उन्होंने विनोद-भरे स्वर में कहा कि इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे ही प्रश्न करना होगा। यह उचित तो नहीं है, यह जो शास्त्रार्थ की परम्परा रही है, उसमें विद्वानों की एक शैली रही है, क्योंकि उसमें तो जीत-हार की धारणा ही मुख्य होती है। उसमें जब कोई प्रश्न किया जाता है, तो सामनेवाला विद्वान् उसका उत्तर देने के स्थान पर उसके प्रश्न में ही कोई भूल निकालने की चेष्टा करता है। या तो कहेगा कि आपका प्रश्न व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, या फिर आपका प्रश्न ही व्यर्थ है, निरर्थक है। तो प्रश्न के बदले में उत्तर देना, यह एक श्रेष्ठ परम्परा है। और प्रश्न करनेवाले से ही प्रश्न कर देना – यह लगता है मानो किसी को हराने की चेष्टा की जा रही है।

परन्तु महर्षि बोले – "मेरी समस्या यह है कि आपके प्रश्न के बदले में प्रश्न किए बिना मैं उत्तर ही नहीं दे सकूँगा। आपके प्रश्न को सुनकर मेरे मस्तिष्क में एक जो भ्रम उत्पन्न हुआ है, जब तक आप उसका समाधान न कर दें, तब तक आपके जटिल प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। आपने पूछा है कि मैं कहाँ रहूँ, तो बदले में पहले मैं यह पूछना चाहूँगा कि आप कहाँ नहीं हैं। जब आप बता देंगे कि आप यहाँ-यहाँ नहीं हैं, तो उनमें से चुनकर मैं कोई एक स्थान बता दूँगा।"

इसका अर्थ यह है कि जो सर्वव्यापी है, समस्त जड़-चेतन में सर्वत्र विद्यमान है, वह यदि प्रश्न करे कि मैं कहाँ रहूँ, तो यह तो बड़ी विचित्र-सी बात हुई। परन्तु महर्षि वहीं रुक नहीं गये। भगवान राम से उत्तर पाने के पहले ही मानो उन्होंने उस प्रश्न का तीन रूपों में उत्तर दे दिया। और वह ऐसे कि एक तो उन्होंने यह कहा कि आप सर्वव्यापी हैं। यह वेदान्त के अनुकूल उत्तर है। भक्ति की धारणा से यह थोड़ा भिन्न भी है। उत्तरकाण्ड में आप देखेंगे कि जब कागभुशुण्डिजी ने प्रारम्भ में मुनियों के आश्रम में जाकर के सगुण-साकार ईश्वर के बारे में जिज्ञासा प्रगट की और कहा कि मैं भगवान राम के दर्शन करना चाहता हूँ, ईश्वर को पाना चाहता हूँ, तो मुनियों ने यही कहा – ईश्वर को तुम पाना ही क्यों चाहते हो, वह तो सर्वत्र निवास करता है। तुममें भी वह है –

जेहि पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई।
ईस्वर सर्ब भूतमय अहई।। ७/१०९/१५

उन्होंने स्पष्ट कह दिया – महात्मा लोग भले ही बड़ी तार्किक पद्धति से निर्गुण का वर्णन करते थे, वह बुद्धिसंगत था और जो साधक या व्यक्ति की बुद्धि में स्थित है, उसके लिए वह समाधान सही भी हो सकता है। पर मैं तो एक भावुक व्यक्ति हूँ। मेरे हृदय में भावना ही प्रबल है, इसलिए मुनि लोग जब कहते थे कि ईश्वर सर्वत्र है, तो मुझे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता था –

निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई।
सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।। ७/११०/१६

तात्पर्य यह कि वेदान्त के द्वारा दिया जानेवाले इस उत्तर को भक्ति-भावना में भी महत्त्व दिया गया है, लेकिन उपासना में जिस प्रीति, जिस निष्ठा की आवश्यकता है, वह बिना किसी पक्षपात या आग्रह के सम्भव ही नहीं है। अर्थात् यदि भक्त का भगवान के किसी रूप के प्रति आग्रह है, उसकी किसी नाम के प्रति निष्ठा है, किसी चरित्र के प्रति उसका आकर्षण है, तो ईश्वर सर्वत्र सबमें निवास करते हैं – यह भाव उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

अत: महर्षि वाल्मीकि ने पहले वही उत्तर दिया, जो वेदान्त में दिया गया है कि ईश्वर तो सर्वत्र निवास करते हैं। और यह वाक्य तो हम और आप बारम्बार दुहराया करते हैं। पर किसी बात को बार-बार दुहराते रहना एक बात है और उसका सचमुच वोध होना अलग बात। यह तो मानो रटा-रटाया-सा पाठ है। शास्त्रों के उद्धरण के द्वारा यह बात सुनने को मिली कि ईश्वर सर्वत्र हैं और एक छोटे बच्चे से लेकर बड़े-से-बड़े तक, सभी बड़ी सरलता से कह देते हैं कि ईश्वर सर्वत्र हैं। वस्तुत: यदि ऐसा बोध होता रहता, तो व्यक्ति के जीवन में कितना बड़ा अन्तर आ जाता!

इसलिए वेदान्त की यह अनुभूति, यह जो महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि आप सर्वत्र निवास करते हैं या जो महात्मा लोग कागभुशुण्डिजी से कहते थे, वह यथार्थ होते हुए भी सबके लिए समान रूप से प्रेरक नहीं है। कोई भी व्यक्ति जहाँ जिस मन:स्थिति में है, उसकी साधना का क्रम वहीं से प्रारम्भ होगा। इसलिए महर्षि वाल्मीकि ने दूसरे प्रकार से उत्तर दिया। और वह उत्तर भक्ति-साधना के अनुरूप है।

फिर तीसरे उत्तर में उन्होंने जो कहा कि आप चित्रकूट के वन में निवास कीजिए, तो यह मानो भगवान ने अवतार लेकर भौतिक धरातल पर जहाँ वे निवास करेंगे, उस भूमि के विषय में उन्होंने भगवान राम को उत्तर दिया।

इन तीनों प्रकार के उत्तरों का तात्पर्य सही है। यह प्रश्न मत कीजिए कि इनमें सही कौन-सा है, बस यही देखिए कि आपके लिए क्या उपयुक्त है। अब मान लीजिए कि यह कह दिया जाए कि ईश्वर सर्वत्र निवास करता है, तब तो आपको किसी तीर्थयात्रा के लिए जाने की कोई प्रेरणा ही नहीं होगी। तीर्थयात्रा की प्रेरणा न होने के पीछे यदि यह अनुभूति हो कि ईश्वर सर्वत्र हैं, तब तो एक बात है, पर इस अनुभूति के बिना ही, कोई व्यक्ति इस वाक्य के बहाने मुनियों के आश्रम में या तीर्थों में जाना बन्द कर दे, तब तो उसकी बड़ी हानि होगी।

यदि कोई बद्री-नारायण में जाकर भगवान का दर्शन करे, तो तर्क से कोई भी कह सकता है कि जब भगवान घर में है हृदय में है, तो इतनी लम्बी यात्रा करने की क्या आवश्यकता थी। पर यह तो कुछ नहीं हुआ। उस यात्रा के द्वारा जीवन में जो अनेक उपब्धियाँ होती हैं, जिस आनन्द और सन्तोष की अनुभूति होती है, वह केवल किसी विद्वान् व्यक्ति के द्वारा केवल यह कहने मात्र से नहीं हो सकती है कि ईश्वर सर्वत्र निवास करता है। उस उपलब्धि के लिए तो यह कहना ही होगा कि भगवान ने यहीं पर जन्म लिया है। यह सर्वश्रेष्ठ भूमि है, पवित्र भूमि है। और वह उस पवित्र तीर्थयात्रा के द्वारा सचमुच ही धन्य होगा, कृतकृत्य होगा।

'मानस' के प्रारम्भ में मनुजी के चरित्र के माध्यम से इसी तत्त्व को बताने की चेष्टा की गयी है। महाराज मनु राजा तथा मानव-जाति के आदि-पुरुष हैं। और वे कोई साधारण आदि-पुरुष नहीं, अपितु जिन्होंने स्मृति का निर्माण करके वर्तमान तथा भविष्य के लिए भी एक आदर्श आचार-संहिता देने की चेष्टा की, जिन्होंने विधि और शास्त्रों की धारणाओं के अनुकूल राज्य चलाया, समाज का निर्माण किया। बाद में जब वे वृद्ध हुए, तो उनके हृदय में बड़ी पीड़ा हुई कि सब कुछ तो हो गया, पर मेरा जन्म भगवद्-भक्ति के बिना व्यर्थ चला गया –

हृदयँ बहुत दुख लाग
जनम गयउ हरिभगति बिनु।। १/१४२

महाराज मनु जब राज्य का संचालन करते थे, उन दिनों क्या उनके अन्त:करण में भगवान या उनकी भक्ति का अभाव था! पर इतना होते हुए भी मूल प्रश्न वही है कि उनको यह प्रतीत होता है कि ईश्वर को पाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है और अभी मैंने ईश्वर को पाया नहीं।

आजकल तो भाषण में भी कह दिया जाता है कि ईश्वर तो सर्वत्र है, सबमें है और सबकी सेवा करना ईश्वर की सेवा करना है। यह भी ठीक है, कल्याणकारी भी है, पर जो सेवा कर रहा है, उसको भी तो लगना चाहिए कि वह ईश्वर की सेवा कर रहा है। यदि उसे ऐसा बोध नहीं हो रहा है, तो यह कहना कि यह सब ईश्वर की सेवा है, सत्य होते हुए भी, उसकी पूरी तौर से जीवन में धारणा नहीं हो सकती।

इसीलिए शास्त्रों में क्रमिक कक्षा का विधान किया गया है। इस क्रम के अनुसार उन्होंने पहले तो कहा कि दान ही महानतम धर्म है। दान देना चाहिए इसका उपदेश दिया। फिर यह भी बताया कि दान कैसे देना चाहिए? इसमें तो बड़े संकट की सम्भावना है। शास्त्र कहता है – दान में अभिमान

नहीं होना चाहिए और देश-काल-पात्र के अनुसार ही दान देना चाहिए। नि:सन्देह यथासम्भव इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए। लेकिन एक दिन बड़ी मनोरंजक बात हुई।

एक प्रसंग में मैंने कहा कि शास्त्र में कहा है कि जो गुरु में मनुष्य-बुद्धि रखता है, वह नरक में जाता है –

रौरव नरक कोटि जुग परहीं। ७/१०७/५

हमारे एक निकटस्थ ने कहा – "तब तो भूलकर भी कभी गुरु नहीं बनाना चाहिए। क्योंकि मनुष्य-बुद्धि तो जायेगी नहीं और इसके फलस्वरूप नरक में जाना पड़ेगा, इसलिए अच्छा तो यही होगा कि दीक्षा ही न ली जाय।"

विनोद में भी, बात तो उलट ही गई न! अब दान देने से यदि अभिमान आता हो, तो व्यक्ति दान करना ही छोड़ देगा। सोचेगा कि दान देने से अभिमान हो और अभिमान से पतन हो, इससे तो अच्छा यही होगा कि हम दान ही न दें।

अभी मैं सम्बलपुर गया था, तो वहाँ एक सज्जन ने एक बड़ा मनोरंजक चुटकुला सुनाया। एक सज्जन बड़े ही कृपण थे। लोगों को लगा कि इनसे कुछ सार्वजनिक कार्य के लिए दान लिया जाय। लोग जब दान लेने के लिए उनके पास गये, तो उन्होंने तत्काल तीन लाख रुपयों का चेक काटकर दे दिया। लोग तो बड़े चकित हो गये – अरे, इनको तो हम बड़ा कृपण समझते थे, इन्होंने इतना बड़ा दान दे दिया। पर जब वे चेक लेकर लौटे और चेक को ध्यान से देखा, तो पाया कि उसमें उनका हस्ताक्षर नहीं था। तो वे लौटकर फिर उनके पास गये और बोले – "आपने चेक तो दिया, पर इसमें हस्ताक्षर करना भूल गये।" वे बोले – "नहीं, मैंने तो जान-बूझकर हस्ताक्षर नहीं किया है, क्योंकि मैं दान को गुप्त रखना चाहता हूँ। हस्ताक्षर कर देने से लोगों को मेरा नाम मालूम हो जायेगा।" तो न देने की यह कितनी बढ़िया युक्ति है। बिना कुछ दिये ही उन्होंने इतना बड़ा गुप्तदान किया!

व्यक्ति कोई ऐसा मार्ग न ढूँढ़ ले और अपनी दुर्बलताओं को ही ऐसा रूप दे डाले कि उसके जीवन में ठीक उल्टी ही बात आ जाय। अत: शास्त्रों ने एक ओर तो यह कह दिया कि दान करो, पर – **देशे काले च पात्रे च** (गीता, १७/२०) – स्थान-काल-पात्र के अनुसार करो। पर उन्हें पता था कि ऐसे भी चतुर-शिरोमणि मिल जाएँगे, जो कहेंगे कि हमें दान के योग्य कोई उत्तम पात्र ही नहीं मिला! कोई उपयुक्त स्थान ही नहीं मिला, तो हम दान भला कैसे करते? तो एक वाक्य और कह दिया, 'मानस' में उसी श्लोक का अनुवाद है –

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।। ७/१०३

– धर्म के चार पद प्रसिद्ध हैं (सत्य, दया, तप तथा दान), परन्तु कलियुग में केवल एक दान ही प्रमुख है। दान चाहे जिस विधि से किया जाय, कल्याण ही सम्पन्न करता है।

चाहे जैसे भी दो – **ह्रिया देयम् भिया देयम्** (तैत्तिरीयोपनिषद्, ११/३) – लज्जा के मारे दो, डर के मारे दो, अनिच्छा होने पर भी दो, परन्तु दो अवश्य। दोनों बातें अलग लगती हैं, परन्तु दोनों ही ठीक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले से ही इतनी सूक्ष्मता बता देने पर, इतनी पण्डिताई आ जाती है कि व्यक्ति उसके मूल से ही वंचित रह जाता है।

यह बड़े महत्त्व का सूत्र है। महात्मा गाँधी का एक ऐसा ही संस्मरण है, जो डायरी में प्रकाशित हुआ। किसी महिला ने सुना कि भजन को मन लगाकर करना चाहिए। तो उन्होंने महात्माजी को लिखा कि मैं तो जब भजन करने बैठती थी, तो मन इधर-उधर हो जाता था, अत: मैंने भजन करना ही छोड़ दिया। उत्तर में महात्माजी ने कहा – मन के इधर-उधर भटकाव को न छोड़कर आपने भजन ही छोड़ दिया। जिसको छोड़ना था, उसे न छोड़कर आपने मूल को ही मिटा दिया। इसका अर्थ है कि धर्मशास्त्र और श्रवण में भी एक बड़ी समस्या रहती है कि सुननेवाला व्यक्ति जब कोई बहुत ऊँची बात सुन लेता है, तो वह उसे अपनी वृत्तियों के पोषण के लिए एक आड़ बना लेता है। इसलिए ऊँचे सिद्धान्त रहें, वहाँ तक पहुँचना हमारा लक्ष्य हो, लेकिन निश्चित रूप से हमें उसे एक बहाना नहीं बना लेना चाहिए।

मनुजी बड़े वेदज्ञ हैं, विचारक हैं और मानव-जाति के आदिपुरुष हैं, पर उनको लगा कि भक्ति और भगवान की प्राप्ति मेरे जीवन में नहीं है। उस प्राप्ति का क्या अर्थ उनके अन्त:करण में है? वे ईश्वर को किस रूप में पाना चाहते हैं? वर्णन आता है कि उनको ऐसा लगा कि **मनुष्य को जब तक विषयों से वैराग्य नहीं होगा, भगवान के चरणों में अनुराग नहीं होगा, तब तक उसके अन्त:करण में भक्ति नहीं आएगी।** धर्म का पालन करने के बाद भी उनको लगता है कि वैराग्य होने के बाद साधना के द्वारा भगवान की यदि प्राप्ति हो, तो वही प्राप्ति है। सारे शास्त्र और ग्रन्थ उनके सामने रहे होंगे, परन्तु उन्होंने स्वयं को भुलावे या भ्रम में नहीं डाला।

उन्होंने एक निर्णय लिया – ठीक है, मेरा मन विरागी नहीं है, लेकिन त्याग तो मैं कर ही सकता हूँ। **मन से छूट जाना विराग है और बुद्धिपूर्वक छोड़ना त्याग है।** दोनों में अन्तर यह है। यह वस्तु हमें छोड़ देना चाहिए, यह बुद्धि यदि हममें हो और उसे यदि हम छोड़ दे, तो वह बुद्धिजन्य त्याग है। यदि किसी व्यक्ति से कहा जाय कि तुम्हें मिठाइयाँ नहीं खानी चाहिए। और यदि उसको कोई रोग है, कष्ट की सम्भावना है, तो वह उसे बुद्धिपूर्वक ही छोड़ता है। तो मनु की साधना का सबसे सबल पक्ष यह है कि उन्हें स्वयं के बारे में भ्रम नहीं है। जैसा उनको लगता है, ठीक वैसा ही उन्होंने पालन किया। अब वहाँ जो वर्णन आता है – उन्होंने सोचा

कि नहीं, राजा रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे जानते हैं कि महाराज जनक जैसे राजा को राज्य करते हुए भी परम तत्त्व का ज्ञान है। परन्तु मनु को लगता है – नहीं, राज्य को छोड़ना ही होगा। यह उनका कोई अविवेक नहीं है। वे अपने को किसी धोखे या भ्रम में नहीं डालते। वे तत्काल निर्णय लेते हैं और यद्यपि पुत्र नहीं चाहता, पर उसे बलपूर्वक राज्य देकर पत्नी के साथ वन को चल देते हैं –

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा।। १/१४३/१

क्या घर में ईश्वर नहीं मिल सकता? यह जो बहाना है कि ईश्वर घर में भी मिल सकता है, वन में भी मिल सकता है – दोनों जगह मिल सकता है। पर मनु को ऐसा नहीं लगता। अब आप भले कह लें कि वे उतने बड़े ज्ञानी नहीं थे। पर ऐसी बात नहीं है। उन्हें लगता है कि ईश्वर को पाने के लिए राज्य-ऐश्वर्य-भोग को छोड़कर वन में जाना होगा। वे सब त्याग देते हैं। व्यक्ति सोचता है कि ईश्वर तो सर्वत्र है, घर में भी मिल जायेगा, और यह मानकर वह अपने जीवन को ज्यों-का-त्यों रखकर भ्रम में पड़ा रह सकता है। मुख से कहना और सचमुच बोध होना बिल्कुल अलग बातें हैं।

मनु सचमुच ही राज्य छोड़ देते हैं। राजसत्ता को छोड़ना बड़ा ही कठिन है। उनके जीवन में कितनी बड़ी त्याग-वृत्ति रही होगी, जो उन्होंने इसका परित्याग कर दिया। उसके बाद आप पढ़ते हैं – मनु नैमिषारण्य में जाते हैं। हमारे शास्त्रों में एक ओर तो यह प्रतिपादन किया गया है कि सर्वज्ञ ईश्वर है, पर क्या यही परम सत्य है? क्या सभी स्थान सचमुच एक जैसे हैं? बिल्कुल नहीं। किसी भूमि में धान उपजता है, तो किसी में गेहूँ पैदा होता है और किसी में कुछ नहीं होता। भेद तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। फिर कोई-कोई भूमि ऐसी भी है, जहाँ केशर की पैदावार होती है। अब कोई समझ ले कि भगवान सर्वत्र है, तो हम चलें यहीं रायपुर के खेतों में केशर की खेती करें, तो सर्वत्र भगवान के होते हुए भी केशर यहाँ के खेत में उत्पन्न नहीं होगा। ईश्वर की व्यापकता और तीर्थ-माहात्म्य – दोनों को कभी-कभी हम लोग मिला डालते हैं। पर मनु ने कहा – नहीं, पवित्र तीर्थ में ही जाना चाहिए। और किस तीर्थ में जायँ? अनेक तीर्थ थे, पर उनके मन में यह भावना थी कि नैमिषारण्य से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है –

तीरथ बर नैमिष बिख्याता।
अति पुनीत साधक सिधि दाता।। १/१४३/२

इस विवाद में उलझने की आवश्यकता ही नहीं थी कि कहाँ जाना चाहिए? नैमिषारण्य श्रेष्ठ है, मथुरा श्रेष्ठ है या अयोध्या श्रेष्ठ है। जैसी उनकी भावना थी, तदनुसार चलकर वे नैमिषारण्य पहुँचे। और तब वहाँ मुनियों ने क्या किया? लगता है कि मानो पहली कक्षा के विद्यार्थी को पाठ पढ़ाया जा रहा हो। वहाँ के मुनियों ने उनसे आसपास के जितने तीर्थ थे, उन सबकी यात्रा करने को कहा –

जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाए।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए।।१/१४२/७

क्या राजा के रूप में वे पहले तीर्थयात्रा नहीं कर चुके होंगे? अवश्य कर चुके होंगे। पर उस समय उन्होंने राजा के रूप में जो तीर्थयात्रा की, वह धर्मपालन की दृष्टि से की थी। पर अब उद्देश्य बदल गया है। अब तो उनका उद्देश्य है ईश्वर को पाना। इसलिए कहा – अब ईश्वर को पाने के लिए, साधन के रूप में तीर्थयात्रा कीजिए। तो परिणाम क्या हुआ? यह हुआ कि पहले मोटे थे, अब दुबले हो गये। इसका अर्थ क्या है? क्या मोटे लोगों को ईश्वर नहीं मिलते? यदि ऐसा मान लें, तब तो बहुत-से लोग वंचित रह जाएँगे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि किसी को साधना करनी है, किसी विशेष प्रकार की तपस्या करनी है, तो शरीर को भी उसके लिए उपयुक्त बनाना होगा। तो यह कितनी साधारण-सी बात लगती है कि तीर्थयात्रा करते-करते दुबले हो गये। यदि तप करना ही हमारा लक्ष्य हो, तो दुबला होना भी एक बड़े महत्त्व का साधन है। और दुबले होने के बाद मुनियों के वस्त्र धारण कर लिए और नित्य पुराण-कथा सुनने लगे –

कृस सरीर मुनि पट परिधाना।
सत समाज नित सुनहिं पुराना।। १/१४३/८

निःसन्देह इन पुराणों को वे पहले भी सुन चुके हैं, पर अब फिर से सुनने लगे। मुनियों ने कहा – पहले जब आप सुनते थे, मान लीजिए आप सप्ताह में बैठे हैं, नवाह्न में बैठे हैं, कक्षा में बैठे हैं, तो दो-तीन या पाँच घण्टे में बहुत-सी बातें कही जाती हैं। और व्यक्ति स्वाभाविक रूप से उसमें से वही बात ज्यादा ध्यान से सुनेगा और वही बात उसके मन में टिकेगी, जो उसकी भावनाओं, संस्कार तथा मान्यताओं के अनुकूल होगी। यही मानव स्वभाव है।

जबलपुर में एक अद्‌भुत श्रोता मिले, जो नित्य आते और सबसे पहले आगे ही बैठते थे। वे अच्छी-से-अच्छी माला बनवाकर लाते और मुझे पहनाते। पर जब कथा प्रारम्भ हो जाती, तो बस दो-चार मिनट के बाद ही उठकर चले जाते। बड़ा आश्चर्य होता था। सोचता – बड़े उत्साह से आते हैं, माला लाते हैं और फिर शीघ्र ही चले भी क्यों जाते हैं। पूछताछ करवाने पर उन्होंने अपने एक परिचित को बताया – देखिए, मैं कथा सुनने नहीं जाता। – तब? बोले – "पहली बार जब मैं उनकी कथा सुनने गया और बोलते समय उन्होंने संयोग से जो हाथ उठाया और उसमें उनकी जितनी उँगलियाँ उठी हुई थीं, मैंने उसी पर सट्टा लगा दिया और जीत गया। तो उस दिन से मैं यही देखने जाता हूँ कि उनकी कितनी उँगलियाँ उठी हैं।" कथा में तो कहीं वर्णन नहीं आया कि

वक्ता की उँगलियाँ भी कोई सूचना देंगी, पर वह बेचारा जो उद्देश्य लेकर आया था, वह पूरा हो गया। अब आगे हम जो कुछ कहते रहें, वह उनके कुछ काम का नहीं था। फिर उनके उठकर चले जाने के बाद जो लोग बैठे रह जाते हैं, वे भी क्या सारी बातें सुनते हैं? – बिल्कुल नहीं। आप स्वयं अलग-अलग व्यक्तियों से पूछिए कि आपने आज की कथा में क्या सुना, तो कभी आपको एक उत्तर नहीं मिलेगा।

अत: व्यक्ति को धर्मकथा में भी अपने मन की दुर्बलताओं के समर्थन में या किसी प्रकार की वृत्तियों के अनुकूल जो कुछ मिलेगा, वही अच्छा लगेगा। अत: श्रवण करते समय महत्त्व की बात यह है कि हमारा लक्ष्य क्या है, किस उद्देश्य से हम सुनना चाहते हैं, क्योंकि ग्रन्थों में तो सब कुछ है – राजनीति है, धर्म है, विज्ञान है, युद्ध भी है। इसलिए मुनियों ने कहा – फिर से सुनिए। और सुन लेने के बाद कहा – अब मंत्रजाप होना चाहिए। तो उन्होंने द्वादशाक्षर मंत्र की दीक्षा लेकर अनुरागपूर्वक जप करना शुरू किया –

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अतिलाग ।। १/१४३

तो क्या राजा रहते समय जप नहीं किया होगा? गृहस्थ-धर्म की परम्परा के अनुसार गायत्री-मंत्र का जप करना तो अनिवार्य है। पर नहीं, अब फिर से जप किया। अब जप बदल गया है, कथा बदल गई है, तीर्थयात्रा का उद्देश्य भी बदल गया है। और उसके बाद क्रमश: साधनाएँ – तपस्या बढ़ती जाती है। और उनके जीवन में तपस्या की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि वे फल खाना छोड़ देते हैं, जल पीना छोड़ देते हैं और फिर वायु तक छोड़ देते हैं। यह सब छोड़ना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है। जो जितना कर सकता है, करे। कोई व्यक्ति महीने में दो दिन व्रत रह कर प्रसन्न होता है कि हमने भगवान के लिए व्रत किया। बिल्कुल ठीक है। पर अब उनको लगता है कि नहीं, उतना काफी नहीं है। और इस तपस्या का परिणाम क्या हुआ? – हड्डी भर रह गई है, पर किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता –

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।
तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा। १/१४४/४

लोगों को दिखाई दे रहा है कि ये इतनी तपस्या कर रहे हैं, पर उनको तो मानो शरीर पर विजय मिल गई, मन पर विजय मिल गई, मन सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठ गया है। ❖ (क्रमश:) ❖

उपदेश-संग्रह

रवीन्द्रनाथ गुरु

विपदि खेदमध्ये च भगवान् अस्ति मे प्रियो।
मृत्योः सुयातनायां हि प्रियोऽस्ति स विभुर्मम ।।१।।

– विपत्ति और दुखों के बीच भी श्री भगवान ही मेरे प्रियतम हैं। मृत्यु की भीषण यातनाओं के बीच भी श्री भगवान ही मेरे प्रियतम हैं।

अत्रास्ति भगवन् त्वं हि पश्यामि त्वां स्वचक्षुषा।
मया सह भवान् अस्ति त्वामेवानुभवाम्यहम् ।।२।।

– हे प्रभो! तुम यहीं, इसी जगत् में हो! मैं अपनी आँखों से तुम्हें देख रहा हूँ। तुम मेरे साथ ही हो, मैं तुम्हारा अनुभव करता हूँ।

तवास्म्यहं नय त्वं मां मा परित्यज मां प्रभो।
जगतो नाहमस्मीश! व्रजामि शरणं तव ।।३।।

– प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, तुम मुझे लेकर जाओ, मेरा परित्याग मत करो। हे प्रभो! मैं इस जगत् का नहीं हूँ, मैं तुम्हारी शरण में आ रहा हूँ।

हीरानिधिं परित्यज्य मा काचान्वेषणं कुरु।
महनीयसुयोगोऽस्ति मनुष्ये जीवने भुवि ।।४।।

– हे मन! इस संसार में मानव-जीवन रूप एक महान् सुयोग मिला है। इसमें आत्मारूपी हीरों की खान को छोड़कर भोगरूपी काँच की खोज मत कर।

भगवान् सर्वसौख्यानाम् अस्ति प्रस्रवणं ननु।
लभस्व ह्यन्तरङ्गं तं परमात्मानमीश्वरम् ।।५।।

– तुम्हारे अपने अन्तर में स्थित भगवान ही समस्त सुखों के उत्स हैं। अत: अपने अन्तर में स्थित उन्हीं परमात्मा-रूप सुहृद ईश्वर की प्राप्ति करो।

क्षिपेन्नैव यथा कृष्णप्रसादं कर्दमे भुवि।
तथाहङ्कारवान् लोके नैवाशीर्वादमर्हति ।।६ ।।

– जिस प्रकार भगवान का प्रसाद मिट्टी या कीचड़ में नहीं डाला जाता, वैसे ही इस जगत् में अहंकारी व्यक्ति प्रभु की कृपा के योग्य नहीं हो सकता।

जीवन का संग्राम

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

यह जीवन-संग्राम बहुत विकट है। मनुष्य को तीन क्षेत्रों में यह संग्राम लड़ना पड़ता है। एक तो वह है, जहाँ मनुष्य प्रकृति से लड़ता है; दूसरा वह जहाँ मनुष्य मनुष्य से लड़ता है; और तीसरा वह है, जहाँ मनुष्य अपने आप से लड़ता है। इन तीनों युद्धों के रणकौशल अलग अलग होते हैं। पहली लड़ाई के लिए मनुष्य भौतिक-विज्ञान से सहायता लेता है, दूसरी के लिए वह समाज-विज्ञान से और तीसरी के लिए वह मनोविज्ञान का सहारा लेता है। कभी उसे सफलता मिलती है, तो कभी विफलता। जब वह विफल होता है, तब इस संग्राम से विरत होने का विचार करता है। उसे लगता है कि दुनिया एक झमेला है और इसे छोड़कर मुझे कहीं जंगल में चले जाना चाहिए। वह बारम्बार संसार से पलायन की बात सोचता है। पर क्या जीवन-संग्राम को छोड़कर भाग जाना उसकी समस्या का समाधान कर सकेगा? मनुष्य भ्रम में पड़कर सोचने लगता है कि बाहरी परिस्थितियों में परिवर्तन से उसे शान्ति मिल सकेगी। वस्तुतः शान्ति तो उसके स्वयं के ही भीतर है। जंगल में जाने मात्र से शान्ति नहीं मिल जाती। शान्ति पाने के लिए हमें बाहरी परिस्थितियों में नहीं, स्वयं अपने भीतर परिवर्तन करना पड़ेगा। मेरे पैर में काँटा गड़ जाने से यदि मैं यह सोचूँ कि दुनिया का सारा काँटा मैं जलाकर भस्म कर दूँगा, तो यह मेरी नितान्त नादानी ही होगी। उचित यह होगा कि मैं जूते पहनकर चलूँ, जिससे काँटे का कष्ट मुझे न झेलना पड़े। वर्षा के कष्ट से दुखी होकर मैं यदि सोचूँ कि वर्षा को ही बन्द कर दूँ, तो यह सम्भव नहीं है। उचित यह है कि मैं छाता खोलकर अपने को वर्षा के कष्ट से बचा लूँ। अतएव जीवन-संग्राम से जूझने के लिए हमें अपने मन में परिवर्तन लाना होगा, अपनी दृष्टि बदलनी होगी।

हम पढ़ते हैं कि अर्जुन ने एक महाभारत लड़ा। हमारे भी भीतर एक महाभारत चल रहा है। अर्जुन का महाभारत तो अठारह दिन में समाप्त हो गया, पर हमारे भीतर का महाभारत जाने कब से अनवरत चला हुआ है और रुकने का नाम नहीं लेता। हमारे भीतर भी दो सेनाएँ हैं - एक है देवताओं की यानी शुभ प्रवृत्तियों की सेना और दूसरी है असुरों की यानी अशुभ प्रवृत्तियों की सेना। देवासुर-संग्राम प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में चला हुआ है। अच्छाई और बुराई की यह ठनाठनी क्षण-प्रतिक्षण चल रही है।

हमारे भीतर आत्मा की आवाज उठती है, फिर शैतान भी अपने बोल सुनाता रहता है। आत्मा की आवाज हमें कुपथ में जाने से रोकती है, हमें सावधान करती है कि कहीं असुरों के फन्दे में न पड़ जाना। वह हमारा सही-सही मार्गदर्शन करती है। पर शुभ की यह आवाज बहुधा क्षीण होती है। दूसरी ओर अशुभ मानो बुलन्द आवाज में हमसे कहता है - "अरे, यह क्या अच्छाई-अच्छाई की रट लगा रखी है। संसार में कहीं अच्छाई है भी? छल-प्रपंच, कपट-द्वेष का ही नाम तो संसार है। अगर आगे बढ़ना है, तो दूसरों को छलो। अगर संसार में बचे रहना है, तो दूसरों को ठगो, सबसे धोखाधड़ी करो, येन-केन-प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करो।" और हम इन दो आवाजों के बीच विभ्रमित हो खड़े हो जाते हैं। हमें कुछ सूझ नहीं पड़ता। बलात् हमारे पैर असुर-सेना की ओर खिंचने लगते हैं। तब मन के किसी अज्ञात कोने से एक धीमा-सा स्वर सुनायी पड़ता है - "मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी हूँ। मैं तुम्हारे भीतर का शुभ हूँ, देवता हूँ, भले अभी शिथिल हूँ, पर पूरी तरह से सोया नहीं हूँ। जिस रास्ते तुम कदम बढ़ा रहे हो, उससे तुम्हारा अमंगल ही होगा।" और तब मेरे पैर ठिठक जाते हैं। हृदय के भीतर मन्थन होने लगता है। एक ओर संसार के सुनहले सपने, तड़क-भड़क का प्रलोभन, आमोद-प्रमोद का जीवन, इन्द्रियों को उत्तेजित और तृप्त करने के साधन, और दूसरी ओर जीवन के शाश्वत मूल्यों की झाँकी, इन्द्रियों और मन के स्वामी बनने का दृश्य, त्याग और संयम का जीवन, सेवा और दूसरों के काम आने का भाव। और इन दोनों के बीच हम मथित होने लगते हैं। यह मन्थन ही हमारे पौरुष को जागृत करता है और हमें जीवन-संग्राम का यथोचित रूप से सामना करने की शक्ति प्रदान करता है। यदि हम अपने इस जागृत हुए पौरुष का संयोग अपने भीतर की शुभ की सेना के साथ करते हैं, तो भौतिक-विज्ञान, समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान की रचनात्मक और रक्षणात्मक शक्तियाँ हमारी सहायता के लिए सामने आती हैं। फलस्वरूप, हम निश्चय ही जीवन-सग्राम में विजयी होते हैं तथा शान्ति के अधिकारी बनते हैं। ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ५३ –

माया की पहचान

एक गाँव में एक पण्डितजी रहते थे। वे पूजा-पाठ आदि करके अपनी आजीविका चलाते थे। एक बार वे अपने किसी शिष्य के घर जा रहे थे। साथ में कोई नौकर नहीं था और अकेले जाना उन्हें असम्मान-जनक लग रहा था। जाते-जाते उन्हें राह में एक चमार दिखा। उन्होंने पूछा, "क्यों रे, मेरे साथ नौकर होकर चलेगा? अच्छा खाने को मिलेगा, मौज से रहेगा, चल न।" चमार बोला, "महाराज, मैं तो नीची जाति का आदमी हूँ, भला आपका नौकर बनकर कैसे जा सकता हूँ?" पण्डितजी बोले, "तुझे कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं। मैं सब सँभाल लूँगा। तू बस इतना ही करना कि किसी को अपना परिचय न देना, किसी से ज्यादा बातचीत भी मत करना।" चमार राजी हो गया। पण्डितजी शिष्य के घर पहुँचकर शाम के समय जब संध्या-आह्निक आदि कर रहे थे, तभी वहाँ एक अन्य ब्राह्मण आये और उस नौकर से बोले, "वहाँ से जरा मेरी जूतियाँ तो ले आ।" नौकर ने कोई उत्तर नहीं दिया। ब्राह्मण ने फिर वही बात दुहरायी। पर नौकर चुपचाप बैठा रहा। जब तीन-चार बार कहने पर भी वह टस-से-मस न हुआ, तो अन्त में ब्राह्मण ने चिढ़कर कहा, "अरे मूर्ख, तू ब्राह्मण की बात नहीं सुनता; तू कैसा चमार है?" ब्राह्मण ने यह बात गाली के रूप में कही थी, परन्तु चमार यह सुनकर डर के मारे काँपते हुए पण्डितजी की ओर देखकर बोला, "महाराज! महाराज! मुझे पहचान लिया। मैं चलता हूँ!" और वह नौ-दो-ग्यारह हो गया। इसी प्रकार माया भी मनुष्य को संसार में फँसाकर तरह-तरह से नचाती है, पर पहचान में आते ही तत्काल भाग जाती है।

– ५४ –

जैसा विचार वैसा फल

किसी गाँव में एक शिव-मन्दिर के समीप एक संन्यासी रहा करते थे। सामने ही एक वेश्या का भी डेरा था। वेश्या के घर दिन-रात लोगों का ताँता लगा रहा रहता था। उसका अधम जीवन देखकर संन्यासी के मन में बहुत दुख होता। एक दिन संन्यासी ने उस वेश्या को बुला भेजा और उसे खरी-खोटी सुनाते हुए कहा, "तू बड़ी पापिन है, दिन-रात पाप कर्मों में लिप्त रहती है। अपना लोक-परलोक सब बिगाड़ रही है। क्या कभी यह भी सोचा है कि मरने पर तेरी क्या गति होगी?" सुनकर वेश्या को बड़ा खेद हुआ और वह मन ही मन स्वयं को धिक्कारती हुई ईश्वर से खूब प्रार्थना करने लगी – "हे प्रभो, तुमने मुझे आजीविका चलाने के लिए दूसरा कोई साधन ही नहीं दिया। मैं अब क्या करूँ?" वह अपना पुराना पेशा ही चलाने को बाध्य थी। परन्तु अब वह प्रतिदिन बड़े कातर-भाव से परमेश्वर से प्रार्थना करती और अपनी विवशता के लिए क्षमा माँगती।

इधर संन्यासी ने सोचा कि लगता है इस पर मेरे उपदेश का कोई फल नहीं हुआ! परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी। शिक्षा का एक नया उपाय सोच निकाला। उन्होंने सोचा, "आज से देखता हूँ कि इसके पास कुल कितने लोग आते हैं!"

उस दिन से वे संन्यासी वेश्या के यहाँ जितने लोग आते, उनके नाम पर एक-एक कंकड़ एक ओर उठाकर रख देते। धीरे-धीरे कंकड़ों की ढेरी लग गई। एक दिन संन्यासी ने फिर उस स्त्री को बुलवाया और कंकड़ों की ढेरी दिखाते हुए बोले, "देख, मैंने तुझे कितना समझाया था, तो भी पिछले कुछ दिनों में ही तूने कितना पाप किया है! तू अब भी सँभल जा। यह रास्ता छोड़ दे!" कंकड़ों की ढेरी देखकर वह स्त्री व्याकुल हो उठी और रोते हुए ईश्वर से प्रार्थना करने लगी, "हे प्रभो, मुझे इस नारकीय जीवन से बचाओ, इस पाप-पंक से मेरी रक्षा करो। मुझे रास्ता दिखाओ।"

कुछ ही दिन बाद उस वेश्या और संन्यासी दोनों की एक साथ ही मृत्यु हो गई। यमदूत आकर संन्यासी को और विष्णुदूत आकर वेश्या को ले जाने लगे। यमदूतों को देख संन्यासी ने घबड़ाकर कहा, "लगता है तुम लोगों से भूल हो गई है! तुम लोग अवश्य ही उस वेश्या के लिए भेजे गये हो। मेरे लिए तो विष्णु के दूत आए होंगे।" यमदूत बोले, "नहीं, हमसे कोई भूल नहीं हुई, सब ठीक ही है।" संन्यासी ने क्रोधित होकर कहा, "क्या? मैं जीवन भर ईश्वर का नाम लेता रहा और वह स्त्री वेश्यागिरी करती रही। पर तुम लोग मुझको और उसे विष्णुदूत ले जाएँगे! यह कैसी बात है!" यमदूत बोले, "तुम जरा भलीभाँति सोचकर देखो। वेश्यागिरी उसने नहीं, बल्कि तुमने की। और भगवान का नाम भी तुमने कहाँ लिया! भगवान का नाम भी तो वही लेती रही। यथा भाव तथा लाभ।" भगवान की लीला अगम्य है।

– ५५ –

नारद का नरकभोग

एक बार भगवान विष्णु किसी कारण नारदजी पर नाराज हो गये और उन्हें नरकवास का शाप दे दिया। सुनकर पहले तो वे बड़े विचलित और चिन्तित हुए, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने तरह-तरह से भगवान की स्तव-स्तुति करते हुए उनसे क्षमा कर देने का आग्रह किया। पर भगवान के मुख से निकली हुई वाणी मिथ्या नहीं हो सकती।

आखिरकार उन्होंने वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भगवान से कहा, "प्रभो, नरक के बारे में विस्तार से जानने की इच्छा हो रही है। नरक कहाँ है, कैसा है, उसके कितने प्रकार हैं? आप कृपा करके मुझे यह समझाइये।" भगवान विष्णु ने एक खड़िया ली और भूमि पर उसके द्वारा स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी का चित्र अंकित करके नारद को दिखाते हुए बोले, "देखो, यह स्वर्ग है और यह नरक।"

सुनते ही नारद अपनी जगह से उठे और चित्र में अंकित नरक के स्थान पर लोटने लगे। उसके बाद वे भगवान को प्रणाम करते हुए बोले, "ठीक है ! तो फिर मेरा नरक-भोग हो चुका।" भगवान विष्णु ने हँसते हुए कहा, "यह क्या? तुम्हारा नरक भोग कहाँ हुआ?" नारद बोले, "क्यों भगवन् ! स्वर्ग और नरक – दोनों को आपने ही तो बनाया है ! जब आपने चित्र बनाकर दिखाते हुए कहा कि यह नरक है, तब वह स्थान वास्तव में ही नरक बना और मेरे उस स्थान पर लोटने के कारण मेरा वास्तव में नरक भोग ही हुआ।"

नारद ने यह बात आन्तरिक विश्वास के साथ कही थी। इसलिए भगवान को भी 'तथास्तु' कहना पड़ा। विश्वासं फलदायकम् – पूरा विश्वास रखकर पुरुषार्थ करना पड़ता है।

– ५६ –

अहंकार है कुत्ते की पूँछ

एक वन में एक बड़े ही पहुँचे हुए महात्मा निवास करते थे। उनका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था और बहुत-से लोग उनका दर्शन तथा उपदेश सुनने आया करते थे। एक व्यक्ति बड़ी निष्ठापूर्वक उनकी सेवा किया करता था।

एक दिन महात्मा को प्रसन्न देखकर वह बोला, "महाराज, सुना है कि आप प्रेत-सिद्धि का मंत्र जानते हैं। मुझे भी अपने काम के लिए एक प्रेत की जरूरत है। आप कृपा करके मुझे वह मंत्र सिखा दीजिये।" महात्मा ने कहा, "भूत-प्रेत बड़े खतरनाक हुआ करते हैं। उनसे दूर ही रहना अच्छा है। फिर एक बार मंत्रसिद्धि हो जाने पर प्रेत को हमेशा काम में व्यस्त रखना पड़ता है।" सेवक बोला, "उसकी आप चिन्ता मत कीजिए। मेरे पास असंख्य काम हैं। उसे दम लेने की भी फुरसत नहीं दूँगा। बस, एक बार कृपा करके आप प्रेत मिला दें।" महात्मा के बहुत समझाने पर भी वह नहीं माना। उसकी तो बस एक ही टेक – मुझे तो एक प्रेत चाहिए। आखिरकार महात्मा ने उसे मंत्र सिखा दिया और उसका जप करके वह प्रेतसिद्ध हो गया था।

उसके प्रेतसिद्ध होते ही भूत आकर उसके सामने हाजिर होकर बोला, "जल्दी बताओ, कौन-सा काम करना है? नहीं बताया, तो तुम्हारी गरदन मरोड़ दूँगा।" उस व्यक्ति ने जितने भी काम सोच रखे थे, उसे एक-एक कर देने लगा। परन्तु प्रेत भी क्षण भर में वह काम पूरा करके वापस आ जाता। अति अल्प समय में ही उसके सारे काम पूरे हो गये।

अब तो उसे कोई नया काम सूझता ही नहीं था। प्रेत ने कहा, "जल्दी बताओ, नहीं तो अभी तुम्हारी गरदन मरोड़ता हूँ।" उसने कहा, "बस, जरा-सा ठहरो, मैं अभी आता हूँ।" इतना कहकर वह दौड़ता हुआ अपने गुरु के पास गया और गिड़गिड़ाते हुए उनसे कहने लगा, "महाराज, मैं बड़े संकट में पड़ गया हूँ, मुझे बचा लीजिये।" और उसने सारा हाल कह सुनाया। गुरुजी बोले, "मैंने तो तुझे पहले ही समझाया था, पर तू नहीं माना। ठीक है, तू एक काम कर, उसे यह घुँघराला बाल सीधा करने के लिए दे।" महात्मा के पास से वह घुँघराला बाल लेकर उसने प्रेत को दे दिया। प्रेत ने उसे सीधा किया, पर घुँघराला बाल भी क्या कभी सीधा रह सकता है? वह ज्यों-का-त्यों टेढ़ा बना रहा। वह व्यक्ति बारम्बार उसे सीधा करता, परन्तु हर बार वह फिर पहले जैसा ही टेढ़ा हो जाता। तब से प्रेत दिन-रात उसी को सीधा के प्रयास में व्यस्त रहने लगा। और इस प्रकार उस व्यक्ति की जान बच गयी।

इसी प्रकार मनुष्य के मन का अहंकार भी आसानी से उसका पीछा नहीं छोड़ता। अगर कभी जाता भी है, तो तत्काल वापस लौट आता है। और अहंकार का त्याग हुए बिना ईश्वर की कृपा नहीं होती।

❖ (क्रमशः) ❖

सार्थक जीवन (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(गत कुछ वर्षों में संत गजानन संस्थान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय, शेगांव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द ने उक्त महाविद्यालय में व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण विषय पर कुछ कार्यशालाओं का संचालन किया था। इनमें की गई चर्चाओं को लिपिबद्ध कर लिया गया था और कुछ को उक्त महाविद्यालय ने छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। ये सभी चर्चाएँ अंग्रेजी भाषा में ही प्रकाशित हुई हैं। उनमें से एक पुस्तिका का नाम Meaningful Life है। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, छत्तीसगढ़ के एक संन्यासी स्वामी निर्विकारानन्द ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया है। - सं.)

भूमिका

इस संसार में प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य को छोड़ सभी प्राणी प्रकृति द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित होते हैं। उनमें चुनाव करने की अपनी कोई क्षमता नहीं होती। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है, मानो अन्य प्राणियों में भी चुनाव करने की अपनी कोई क्षमता है। किन्तु यदि हम गहराई से निरीक्षण करें, तो पायेंगे कि प्रकृति के दायरे में उनके अधिकार बहुत ही सीमित हैं। किन्तु जब हम मानव-प्रकृति का अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि मनुष्य के जीवन में जीवन बनाने व बिगाड़ने के लगभग अनन्त विकल्प हैं। मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो अन्तर् व बाहिर् प्रकृति को नियन्त्रित कर सकता है, उसे मोड़ सकता है तथा उस पर विजय प्राप्त कर सकता है। यह योग्यता मनुष्य को सृष्टि की परियोजना व कार्यक्रम में एक विशेष स्थान प्रदान करती है। मनुष्य में अपने भूतकाल को देखने और उससे शिक्षा लेकर वर्तमान व भविष्य को सुधारने की एक अद्भूत क्षमता है। मनुष्य में योजना बनाने और तदनुरूप उसे भविष्य में चरितार्थ करने की क्षमता है। मनुष्य ही केवल एक ऐसा प्राणी है जो वर्तमान जीवन काल में ही अपने जीवन को बदल और सुधार सकता है।

दूसरे प्राणियों के लिये प्रकृति ने ही उनके जीवन के उद्देश्यों को निर्धारित कर रखा है। इस संबंध में उनका अपना कोई चुनाव नहीं है। एक कुत्ते को कुत्ते की ही तरह जीना व मरना पड़ता है। इस संबंध में उसका अपना कोई अधिकार नहीं है। लेकिन मनुष्य यदि अधःपतन का रास्ता चुनता है तो वह कुत्ते के समान गुणों को अपनाकर कुत्ते के समान रह सकता है। और दूसरी ओर यदि वह दिव्य पुरूष बनने की इच्छा रखता है और देवता की तरह जीवन व्यतीत करना चाहता है तो वह उसे भी कर सकता है। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने जीवन को सही प्रयोजन व मूल्य दे सकता है। एक बार मनुष्य अपने जीवन का प्रयोजन व मूल्य देने का निश्चय कर बाह्य व आन्तरिक प्रकृति को सहायक बना अपना महान् लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। यह चुनाव सम्पूर्ण रूप से मनुष्य के हाथ में है। यह उसे ही निश्चय करना है कि वह अपने जीवन से क्या चाहता है। एक बार लक्ष्य निश्चित हो जाने पर, उसकी प्राप्ति के लिये उसे स्वयं ही योजनाओं को कार्यान्वित करना होगा। सारा का सारा उत्तरदायित्व मनुष्य के अपने कन्धों पर है। गीता में इसे बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।६-५

अपने द्वारा अपना उद्धार करें, अपने को अधोगति में न डालें। क्योंकि आप ही अपने मित्र हैं और आप ही अपने शत्रु हैं।

मनुष्य एक चैतन्य प्राणी :- वह कौन सा गुण है जो मनुष्य को ससार के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाता है। मनुष्य की विशेषता यह है कि उसे इस बात का ज्ञान है कि उसका अस्तित्व है। पशु का भी अस्तित्व है और मनुष्य का भी, परन्तु पशु को इसका ज्ञान नहीं है कि उसका कोई अस्तित्व है।

स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है, जो कि मनुष्य को सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ बनाने वाली अद्‌भुत क्षमता की व्याख्या करती है। एक बार स्वामी जी अपने शिष्य शरतचन्द्र चक्रवर्ती के साथ कोलकाता में घोड़ा-गाड़ी में रेल-पटरी के किनारे किनारे जा रहे थे। दूसरी ओर से उन्हें रेल का इंजन आता दिखाई दिया। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, देखो, यह इंजन कैसे सिंह की भाँति आ रहा है। शिष्य ने उत्तर दिया, लेकिन महाराज, यह तो जड़ है, इसके पीछे मनुष्य की चेतना-शक्ति काम कर रही है और इसीलिये यह चल रहा है। इस प्रकार चलने में इंजन की क्या विशेषता है? स्वामीजी - अच्छा बतलाओ तो चेतना का लक्षण क्या है? शिष्य - महाराज, चेतन वही है जिसमें बुद्धि प्रेरित क्रिया पायी जाती है। स्वामी जी - जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ता है, वही चेतन है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपने जीवन-रक्षा के लिये एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरूषार्थ है, जहाँ संघर्ष है, वहीं जीवन का चिन्ह और चैतन्य का प्रकाश है।

यह अति महत्वपूर्ण सत्य स्वामीजी ने हमारे समक्ष रखा है। वे कहते हैं कि प्रकृति से संघर्ष या विद्रोह ही चैतन्य का लक्षण है। यह संघर्ष ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है।

मानव-जीवन ऐसा है जैसा कि खदान से निकाला गया कच्चा माल, फिर भले ही वह सोने की खान हो। कच्चे माल में कितने भी अच्छे गुण क्यों न हों, उसे उपयुक्त व मूल्यवान बनाने के लिये उसे तैयार करना होगा। कारखाने की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात् ही कच्चा माल उपयोगी व मूल्यवान बन पाता है।

इसी प्रकार मानव-जीवन को उपयोगी तथा मूल्यवान बनाने के लिये संसार रूपी इस बृहत कारखाने की विभिन्न प्रक्रियाओं से मनुष्य को गुजरना पड़ता है।

प्राथमिक सोपान : -

(१) उद्देश्य-लक्ष्य :- इस प्रक्रिया का उद्देश्य या लक्ष्य क्या है? वह अन्तिम वस्तु क्या है, जिसे हम इस प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करना चाहते हैं?

मनुष्य के भाग्य के आधुनिक पथ-प्रदर्शक स्वामी विवेकानन्द ने इस उद्देश्य या लक्ष्य के बारे में हमारा सुनिश्चित मार्ग-दर्शन किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक राजयोग में वे कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना , मनःसंयम और ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्म भाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

(२) मानव व्यक्तित्व :- मानव व्यक्तित्व के दो भाग हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। हमारा बाह्य व्यक्तित्व जो हम किसी दर्पण के सामने खड़े होने पर देखते हैं, वही हमारे व्यक्तित्व का सर्वस्व नहीं है। हमारा बाह्य व्यक्तित्व एक आवरण या पेटिका के समान है, जिसके भीतर पेटिका की तुलना में करोड़ों गुणा मूल्यवान हीरा रखा है। लेकिन यदि कोई मनुष्य केवल पेटिका में ही आकृष्ट और आसक्त हो जाये तथा उसके भीतर के मूल्यवान रत्न को न ढूँढ़े, तो हम उसे क्या कहेंगे? क्या हम ऐसे मनुष्य को बुद्धिहीन नहीं कहेंगे?

इसी प्रकार मानव-शरीर भी एक रत्न-पेटिका के समान है। जिसमें बहुमूल्य आत्मा रूपी रत्न रखा हुआ है। रत्न-पेटिका को भेदकर मणिरूपी आत्मा को प्राप्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। आत्मा सत्-चित्त-आनन्द की अथाह खान है। आत्मा की एक झलक मात्र हमारे जीवन को सार्थक बना देती है। ऐसा व्यक्ति समाज के लिये एक वरदान सिद्ध होता है। अतः हम देखते हैं कि मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बहुमूल्य आत्मारूपी मणि का साक्षात् करना है। इससे निम्न कोई भी उद्देश्य मनुष्य-जीवन को पूर्ण एवं सार्थक नहीं बना सकता।

(३) कर्म-सिद्धान्त :- हमें इस संसार में शून्य से नहीं टपका दिया गया है। हमारे अनुभव हमें निःसंदेह यह बताते हैं कि जो कुछ भी इस ससार में विद्यमान है, उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य है। उस कारण को भले ही हम न जानते हों। बिना कारण के इस संसार में किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती। कार्य-कारण सिद्धान्त अमोघ एव अवश्यम्भावी है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हम भी किसी कारण के ही परिणाम हैं। स्वामी विवेकानन्द इसे अपनी अद्वितीय भाषा में हमारे समक्ष रखते हैं। तुम लोग यह जानते ही हो कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने असीम अतीत का परिणाम है। जब शिशु का जन्म होता है तब वह प्रकृति के हाथों प्रक्षिप्त एक जीव नहीं है, जिस प्रकार का वर्णन कविगण प्रसन्नतापूर्वक प्रायः करते हैं, अपितु उस शिशु के पीछे अनन्त अतीत का बोझ होता है। भला या बुरा जो भी हो, वह यहाँ अपने पूर्वकृत् अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोगने आता है। उसी कारण इस जगत में वैषम्य की सृष्टि हुई है। यही कर्म विधान है। हममें से प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना अदृष्ट गढ़ रहा है। (विवेकानन्द साहित्य, पृ. २४ खण्ड ५)

यह हमें साफ दर्शाता है कि यदि हम अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो हमें कार्य-कारण सिद्धान्त को अमल में लाना होगा जो कि हमें परिणामस्वरूप वांछित फल देगा। हमारा जो जीवन आज है, यह हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है। और यह स्वभाविक है कि हमारे भविष्य का जीवन हमारे वर्तमान कर्मों का परिणाम होगा। अतः आईये, वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में सतर्क एवं सावधान हो जायँ और ठीक से जान लें कि हम भविष्य के जीवन को क्या नैतिक मूल्य देना चाहते हैं। हम निश्चित रूप से यह जाने लें कि आने वाले जीवन को हम किन गुणों से परिपूर्ण करना चाहते हैं।

आजीविका मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है :- दुर्भाग्य-वश हमारी आधुनिक विपणन और क्रय-विक्रय संस्कृति के कारण प्रायः हमारी पूरी युवा पीढ़ी की यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि आजीविका के साधन या धनार्जन ही हमारे जीवन का उद्देश्य है। हमें कई बार हमारे बुद्धिमान लड़के-लड़कियों से उनके जीवनोद्देश्य के बारे में चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ है। अधिकाश मानते हैं कि इंजिनियर, डाक्टर, बड़ा व्यापारी, वकील या कोई बड़ा आफिसर बनना ही उनके जीवन का उद्देश्य है। पर हम गहन विचार करें तो पायेंगे कि ये व्यवसाय धन कमाने या जीविकोपार्जन करने के ही साधन हैं। ये जीवन को सहारा भले ही दें, पर उसे सार्थक नहीं बना सकते। यदि तुम किसी महान् आदर्श के लिये जीने का निर्णय करते हो तो ये साधन उसकी पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (१४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

अगले दिन भोर में अँधेरा रहते ही करीब नौ मील की चढ़ाई शुरू हुई। मुख्य रास्ता खराब था और वर्षा हो जाने के कारण और भी खराब हो गया था। दुर्बल शरीर के साथ चढ़ाई में बड़ा कष्ट हो रहा था। संध्या के समय ऊपर की चट्टी में पहुँचा। अधिकांश लोग पहले ही पहुँचे हुए थे। अगले मकान के बरामदे में उन दो दक्षिणियों को बैठे देखा, जिनसे टिहरी के पास भेंट हुई थी। मुझे देखते ही उन लोगों ने पास बुलाया और मेरे लिए भी आसन लगा दिया। उसी दिन सेठजी के पास से दो बार आदमी आया था। मुझे अपने डेरे में आसन लगाने को कहा। परन्तु इन लोगों को छोड़कर जाने की इच्छा नहीं हो रही थी। ये लोग वर्षा के कारण दो दिनों से वहीं रुके हुए थे, आगे निकल नहीं सके थे। बहुत ठण्डक थी और रास्ता भी खराब था। सेठजी ने उस दिन हम तीनों को खिलाया। और उन संन्यासिनी माताओं ने उन दोनों साधुओं को सीधा दिया। उस दिन रात से ही घोर वर्षा होती रही। फिर अगले दिन भी सारे दिन वही हालत थी। इसीलिए यात्रीगण एक तरह से अटक गये थे। सेठजी ने उस दिन भी हम लोगों को भोजन कराया। तीसरे दिन सुबह आकाश थोड़ा साफ हुआ। पहाड़ी रास्ते तब भी बड़े खराब थे। यहाँ और ठहरना उचित नहीं है – यह सोचकर मैं सुबह रवाना हुआ, अकेले ही क्योंकि दोनों दक्षिणियों ने निकलने का साहस नहीं किया। यही मेरे लिए काल सिद्ध हुआ। कर्मभोग का भला कौन खण्डन कर सकता है? वैसे मेरा विश्वास था कि ईश्वर अवश्य ही कर सकते हैं। अस्तु।

रास्ता भूलकर ठण्डे बादलों के घेरे के भीतर से होकर स्वर्गलोक के लोगों के समान चलने लगा। क्रमश: चढ़ाई हो रही थी। मन में सन्देह भी हो रहा था कि ठीक कर रहा हूँ या नहीं। पर पूछता भी, तो किससे! – मन, चलो, आगे बढ़े चलो। दो-तीन घण्टे की चढ़ाई के बाद बड़े कष्टपूर्वक जाकर देखा कि पहाड़ के हिम-मण्डित शिखर पर आ पहुँचा हूँ। वहाँ कोई रास्ता नहीं है और ठण्ड से हाथ-पाँव सुन्न हो गये थे और उँगलियाँ अकड़ गयी थीं। कमण्डलु पकड़ में नहीं आ रहा था। उसे कपड़े से बाँधकर लटका लिया था। बादलों के कारण दो-तीन हाथ से आगे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। ठण्ड के कारण साँस जमकर बर्फ के कणों के रूप में होठों पर बैठ गयी थी। ठण्ड से नाक की नोंक और पाँव की उँगलियाँ में इतनी पीड़ा हो रही थी कि लगता था वे गिर पड़ेंगी। थोड़ा भय भी लगा। परन्तु दूसरा कोई चारा भी तो नहीं था। लगता है – माँ की इच्छा है कि यहीं 'तुषार-समाधि' हो, इसीलिए यहाँ ले आयी है – 'चलो मन, बर्फ के सीने पर, मानो मृत्यु के लिए ही आगे बढ़ो।' पाँवों में रस्सी के खूब फटे हुए जूते थे। चलने लगा। कहीं रास्ता दीख नहीं रहा था। अनुमान से ही चलता रहा। बीच में एक बार कुहासा थोड़ा-सा साफ होने से नीचे की ओर कुछ वृक्ष आदि दीख पड़े थे। पाँवों में आधी चेतना ही रह गयी थी और घुटनों तक तो बिल्कुल भी नहीं थी। पाँव बरफ के भीतर कभी पिण्डली तक और कभी उससे थोड़े कम डूब जाते थे। ऊपर का बर्फ ताजा था और नीचे का कड़ा। उस हिमगिरि का वह शिखर चिर-तुषार-मण्डित रहता है।

पाँव स्वचालित रूप से ही आगे बढ़ रहे थे। चलना अपने सामर्थ्य में न था। फिसलने पर रुकने की क्षमता भी न थी। मन में अन्य कोई विचार भी नहीं उठ रहा था। केवल 'ॐ'-'ॐ' का जप चल रहा था। और पाँव मानो प्रेताविष्ट के समान चल रहे थे। बर्फ को पार कर लेने की मन में इतनी सूक्ष्म चिन्ता थी कि उसका पता तक नहीं चल रहा था। न जाने कितनी देर तक इसी प्रकार लाठी के सहारे बरफ में चलता रहा। उसे पार करके थोड़ा नीचे एक समतल भूखण्ड पर आकर देखा – एक तिब्बती परिवार – स्त्री-पुरुष, दो छोटे बच्चे और साथ में कुछ भेड़ें। वे लोग आग जलाकर कुछ पका रहे थे। देखकर मानो जान-में-जान आयी। शरीर में प्राण के संचार का अनुभव हुआ। वे लोग मुझे देखते ही मेरी दुरवस्था की बात समझ गये थे। मेरे जाते ही आग के पास बैठने के लिए दरी बिछा दी। चाय बन रही थी। 'चा तुम् चा तुम्' – कहते हुए जल्दी से चाय दी। और तिब्बती भाषा में न जाने क्या-क्या कहा, परन्तु जानकारी न होने के कारण मैं कुछ भी समझ नहीं सका। और उस समय तो जानने की क्षमता भी लुप्त थी। सत्तू के साथ थोड़ी-सी और चाय पी। वे लोग, विशेषकर वह तिब्बती माँ बड़े यत्न के साथ मुझे वह सब दे रहे थे। महिलाएँ सर्वत्र ही कोमल हृदय की होती हैं। सर्वत्र दुख देखते ही सर्वप्रथम उन्हीं का

हृदय पसीजता है। वे ही सर्वप्रथम उसे दूर करने को उत्सुक होती हैं और यथासाध्य धन देकर अथवा शारीरिक परिश्रम या सेवा के द्वारा उनके निराकरण का प्रयास करती हैं। यहाँ भी वही हुआ। आग में खूब हाथ-पाँव सेंकने के बाद ही उनमें उष्णता आई। करीब दो घण्टे तो चुपचाप उस आग के पास ही बैठा रहा। 'ॐ'-'ॐ' – "माँ, तुम्हारी यह क्या इच्छा है?" – बारम्बार केवल यही बात मन में आ रही थी और कुछ भी बोध नहीं हो रहा था। उसके बाद उन लोगों से निकटस्थ गाँव का रास्ता जानकर जब बड़े कष्ट के साथ चलना आरम्भ किया, तो लगा मानो वे लोग इशारे से कह रहे हैं कि 'हमारे साथ तिब्बत चलो न !'

पाँच-छह मील और चलने के बाद शाम को लगभग ४-५ बजे एक चट्टी पर पहुँचा। देखा कि पहले के परिचित प्राय: सभी लोग आ पहुँचे हैं। वे दोनों (संन्यासिनी) माताएँ भी थीं। दोनों दक्षिण भारतीय नहीं दिखे। माताओं ने मुझे देखते ही बुलाया। भिक्षा हुई है या नहीं? – पूछने के बाद जब उन्हें पता चला कि नहीं हुई है, तो तत्काल चूल्हा जलाकर थोड़ा हलुआ और चार रोटियाँ बना दीं। धन्य माँ ! धन्य भारत-जननी ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार !

बूढ़े केदार के पास होते हुए भी रात में वहीं रहा। सुबह स्नान करके कौपीन सूखने को वहीं डाल दिया था। वहाँ से थोड़ी दूर नदी के तट पर एक सुन्दर मनोरम स्थान देखकर ध्यान करने गया। बाद में लौटकर देखा कि 'भाग्यवन्त का चिह्न' – कौपीन वहाँ नहीं है। चूँकि उसे पेड़ से बाँधकर गया था, इसलिए वह हवा से नहीं उड़ सकती थी। अवश्य ही कोई अभावग्रस्त उसे ले गया है – यह सोचकर निश्चिन्त हुआ। वैसे मुझे बिना-कौपीन के ही रह जाना पड़ा। दूसरी कौपीन फिर ढाई महीने बाद ऋषीकेश में प्राप्त हुई। यह घटना सुनकर एक साधु ने कहा कि पहाड़ी तांत्रिक लोग संन्यासी या ब्रह्मचारी की कौपीन मिल जाने पर उसे चुराकर उसका किसी तांत्रिक क्रिया में उपयोग करते हैं। यह सुनकर मन में कुछ आशंका तो जरूर हुई, परन्तु उसे वापस पाने का कोई उपाय भी तो नहीं था !

बूढ़े केदार का दर्शन करने के बाद, जहाँ तक याद आता है – उसी दिन संध्या के समय गुप्तकाशी पहुँचा। मार्ग के यत्र-तत्र देखा – उधर के अधिकांश निवासी गोसाईं या अतीत अथवा 'पतित' थे। वे लोग नाथ, गिरि, पुरी, भारती, तीरथ या तीर्थ, रामानन्दी, वैष्णव आदि के रूप में परिचित हैं। कहते हैं कि पहले जो वहाँ तपस्या करने गये थे या अब भी जाते हैं, वे सुन्दर पहाड़ी कन्याओं को देखकर उनके मायाजाल में आबद्ध होकर, कभी स्वेच्छा से या कभी अनिच्छा से, पुन: गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर गये थे या करते हैं। इन पहाड़ों में पुरुषों की अपेक्षा नारियों की संख्या पाँच गुना या उससे भी अधिक होती है। इसीलिए पहाड़ी लोग, घर में यदि कोई अविवाहित या विधवा बालिका हो, तो किसी अकेले साधु को देखते ही उसका खूब आदर-सत्कार करते हैं और सेवा के लिए उस बालिका को ही भेजते हैं। इसके फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में वे बाबाजी, या तो भेड़-बकरी चराते हुए ऊन कातते हुए पहाड़ों में घूमते रहते हैं, अथवा खेती-बारी में मन लगाते हैं। भलीभाँति विचार करने पर लगा कि यह कथा सत्य नहीं है। अन्य स्थानों के समान ही वहाँ के पुरुष भी अपनी दुर्बलता के कारण ही गृहस्थाश्रम अपनाने को बाध्य होते हैं। यहाँ बालिकाएँ अधिक स्वतंत्र स्वभाव की होने से और कोई सामाजिक बाधा भी न होने के कारण उन्हें किसी भी पुरुष से विवाह करने में कोई असुविधा नहीं होती। देखा – यहाँ नये आनेवालों में अधिकांश पंजाब, उत्तर प्रदेश या बिहार के हुआ करते थे।

गुप्तकाशी में उन दोनों दक्षिणी साधुओं से फिर भेंट हुई। मुझे भिक्षा में काफी आटा मिला था और उन्हें भिक्षा में कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ था, अत: सब आटा देकर उनसे रोटियाँ बनाने को कहा। फिर तीनों ने नमक-रोटी खाकर ही उस दिन कुर्मदेव को शान्त किया। इसके बाद तीनों एक साथ त्रियुगी-नारायण तक गये। वहाँ तीन दिन रहे। एक व्यक्ति ने मुझे तीन दिन के लिये सीधा दिया था। उन लोगों को भी मिला था। वे लोग पकाकर मुझे भी खिलाते थे।

वहाँ से हम तीनों केदारनाथ की ओर चल पड़े। थोड़ी दूर जाते ही खूब मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई। रास्ते में और कोई आश्रम नहीं था। मेघों के कारण आगे केवल तीन-चार हाथ ही दिखाई दे रहा था। सारे रास्ते भीगते हुए गौरीकुण्ड पहुँचकर देखा कि वहाँ तिल रखने को भी जगह नहीं है। सर्दी के मारे प्राण निकल रहे थे और भूख भी बेचैन किये हुए थी। और कोई चारा न देखकर शरीर को गर्म करने हेतु उस गर्म कुण्ड में स्नान किया। थोड़ी देर के लिए तो राहत मिली, लेकिन मेरा सब भीग जाने कारण फिर पहले जैसा ही हो गया। उन दोनों के पास दो-दो कम्बल और एक-एक बरसाती कपड़ा भी था, इसलिए उनके कपड़े आदि ज्यादा नहीं भीगे थे। मैंने केदारनाथ जाने का निश्चय किया, जो होना होगा, सो होगा। उन लोगों ने वहीं रुकने का निश्चय किया। भूख से आकुल था और शरीर भी वर्षा में भीगकर ठण्डा तथा भारी हो गया था। फिर सोचा कि यदि केदारनाथ में भी जगह नहीं मिली, तो ...। क्योंकि लोग बता रहे थे कि चार दिनों से वहाँ भयानक वर्षा हो रही है और इस कारण यात्रियों के रुक जाने से सभी चट्टियाँ भरी पड़ी हैं।

केदारनाथ का दर्शन

अकेला ही केदारनाथ के लिए रवाना हुआ। सारे रास्ते भीगते हुए शाम के समय वहाँ पहुँच गया। 'काली-कमलीवाले' की धर्मशाला में जाकर देखा, तो वहाँ बैठने तक को स्थान

नहीं था। चारों ओर जल एकत्र हो जाने के कारण बहुत-से लोग चौबीसों घण्टे बैठे हुए ही बिता रहे थे। मैनेजर से अपनी हालत बयान की। उन्होंने मेरे लिए कुछ भी कर पाने में असमर्थता जतायी। यहाँ तक कि उस केदारनाथ की ठण्डक में मुझे भीगा हुआ देखकर भी उन्होंने तात्कालिक उपयोग के लिए कोई कम्बल या वस्त्र देने की इच्छा भी नहीं दिखाई और न आग तापकर थोड़ा गरम हो लेने के लिए ही कहा। जगह के बारे में असमर्थता जताने के बाद भी कम्बल आदि के विषय में कुछ नहीं कहा। यह सोचकर कि मेरी हालत को प्रत्यक्ष देखकर भी उसने ऐसा उत्तर दिया, तो फिर अन्य विषयों में भी वही उत्तर मिलेगा और ऐसी अवस्था में वही स्वाभाविक होगा।

इतने में ही वे दोनों दक्षिणी भाई वहाँ आ पहुँचे। उन्हें भी वहाँ स्थान नहीं मिला। वर्षा में भीगते हुए हम लोग अन्य किसी स्थान की खोज में चले। धर्मशाला के पास ही एक पण्डे का मकान था। देखा – मकान के दरवाजे टूटे हैं, नीचे एक कमरा है, जिससे होकर पानी की धारा चली जा रही है और वहाँ लकड़ी का एक फीट चौड़ा एक लम्बा तख्ता पड़ा हुआ है। निश्चय किया – इसी कमरे में रात बितायेंगे। कम-से-कम वर्षा से तो बचाव हो सकेगा। हमें देखकर ऊपर से एक ब्राह्मण नीचे उतरे। उन्होंने हमारी बातें सुनकर कहा – "होने से तो कोई अच्छी जगह दे देते, लेकिन क्या करें?" उन्होंने दो तख्ते और ला दिये और धूनी के लिए कुछ लकड़ियाँ भी ले आाये। पत्थर के ऊपर हम तीनों ने तीन तख्ते बिछाकर उन पर आसन जमा लिए। दक्षिणी भाई लोग धूनी जलाने का प्रयास करने लगे, पर लकड़ियाँ गीली होने के कारण न जलीं। सूखी लकड़ियाँ भला कौन देता! हमें आश्रय मिला देखकर और हमारे हालत के बारे में सोचकर मैनेजर के मन में दया का उद्रेक हुआ होगा। उसने ऊपर की खिड़की से मुझे बुलाकर कहा – "किसी को भेजो, मैं थोड़ी लकड़ियाँ देता हूँ।" एक व्यक्ति जाकर करीब मन भर लकड़ियाँ ले आया। ये थोड़ी सूखी थीं। आग जलते ही मैं अपने वस्त्र और कम्बल सेंक-सेंककर सुखाने लगा।

इसके बाद एक दक्षिणी भाई कुछ खाने की खोज में निकला। थोड़ी देर बाद देखा कि वह कुछ लकड़ियाँ और हलुवा-पूरी लेकर आ रहा है। वह बड़े आनन्द के साथ बोला – एक सेठ को किसी प्रकार पकड़कर यह सब वसूल लाया हूँ। सबका नाश्ता हुआ। उनके पास सूखे वस्त्र और कम्बल तो थे ही, वे लोग उसे ओढ़-लपेटकर सो गये। दुर्दशा तो मेरी हो रही थी। कम्बल किसी भी तरह सूख नहीं रहा था। सारी रात बैठे-बैठे बिताई। सुबह होते-होते शरीर की गर्मी से मेरा कम्बल कुछ-कुछ सूख चला था, क्योंकि अच्छी लकड़ियों के समाप्त हो जाने के बाद भीगी लकड़ियों से आग कम और धुँआ ही ज्यादा निकल रहा था। इससे आँखों में भी जलन हो रही थी और मैं फूँक मार-मारकर परेशान था।

प्रभु की कृपा से सुबह नौ या साढ़े नौ बजे वर्षा थम गयी और सूर्यदेव ने दर्शन दिये। छह दिनों बाद लोग उनके श्रीमुख का दर्शन पाकर आनन्द से विभोर थे। और उस दिन मैं तो उनकी कृपा और भी अधिक महसूस कर रहा था। केदारनाथ की कृपा बहुत है और स्थान भी बड़ा मनोरम है। बहुत अच्छा लग रहा था, अत: सारे कष्ट भी भूल गया था। वहाँ पर मैं तीन रात निवास का लोभ नहीं छोड़ सका था।

दूसरे दिन दर्शन आदि करके लौटते ही सत्र के मैनेजर आ पहुँचे। वे पूर्व-परिचित और ऋषीकेश के थे। बोले – "भिक्षा और कहीं नहीं, सत्र में ही कीजिएगा।" सुबह मुझे पहचान कर थोड़े संकुचित होकर पिछली रात के व्यवहार के लिए क्षमा माँगी। बाद में धर्मशाले में जगह खाली होने पर संध्या के पहले ही मुझे धर्मशाले में ले जाने के लिए बारम्बार अनुरोध भी करने लगे। लेकिन ब्राह्मण का आश्रय छोड़ने को मन राजी नहीं हुआ। दोनों दक्षिणी भाई उसी दिन शाम को चले गये। जय केदारनाथ जी।

बद्रीनाथ की ओर

केदारनाथ में तीन रात निवास के पश्चात् वहाँ से विदा लेकर बद्रीनाथ के लिए रवाना हुआ। दो-चार बार मन में इच्छा हुई थी कि संक्षिप्त रास्ते से होकर तिब्बत और मानसरोवर का भी दर्शन करता चलूँ, परन्तु नियमित भोजन के अभाव में शरीर बहुत दुर्बल हो चुका था और उपयुक्त वस्त्र आदि भी न होने के कारण अन्तत: वह इच्छा त्यागनी पड़ी। बद्रीनाथ के रास्ते में साधारणत: भिक्षा की असुविधा हुई थी। गाँवों में भिक्षा माँगने जाता, किसी में कुछ मिलता और किसी में नहीं मिलता। और जब कभी आटा या रोटी मिल जाता, तो उसे अनायास ही जो नमक या गुड़ मिल जाता, उसी के साथ खा लेता। यात्रियों ने भी कई बार निमंत्रण दिया था। और कभी-कभी उन दक्षिणी भाइयों से भी भेंट हो जाने पर वे, या फिर कोई-कोई साधु या गृहस्थ रोटियाँ भी बना देते थे। लमलगढ़, जहाँ से बद्रीनाथ का मार्ग दूर है, अनेक परिचित लोगों से भेंट हुई थी। वे लोग दर्शन करके लौट रहे थे। उनमें से साधु हरिदास और ब्रह्मचारी सदानन्द की याद है, जिन्होंने टिहरी में मुझे खिलाया था। उस दिन मेरे लिए भिक्षा की व्यवस्था उन्होंने ही कर दी थी।

बद्रीनाथ के पथ में दो लज्जादायक घटनाएँ देखकर मैं बड़ा मर्माहत हुआ था। एक दिन एक पंजाबी तथाकथित साधु एक गुजराती सेठ की इकलौती कन्या का खून करके उसके जेवर आदि चुराकर भाग गया था। वह ऋषीकेश से ही इन सेठ के साथ-साथ आ रहा था। लौटते समय उसने लोभ के वशीभूत होकर वैसा किया था।

लमलगढ़ के कुछ ऊपर एक चट्टी में स्थान पाने के लिए जाकर देखा कि बड़ी भीड़ है। कलकत्ते के सेठ हजारीमल और सुप्रसिद्ध डॉक्टर केदारनाथ एक चट्टी में ठहरे थे। सम्भवत: लौट रहे थे। उन्हीं सेठ की पुत्री का खून हुआ था। और जिसने खून किया था, वह भी पकड़ा गया था और उसी चट्टी में एक जगह रखा गया था। बाद में पुलिस की जाँच-पड़ताल से पता चला कि वह खूनी एक फरार अपराधी था। उस पर पहले से ही एक अन्य खून तथा चोरी का मुकदमा चल रहा था। साधु का वेष देखते ही हम लोगों को वहाँ से निकाल दिया, रहने के लिए कोई स्थान भी नहीं दिया।

इसके बाद मैं गाँव में चला गया। वहाँ अयोध्या जिले के एक आदमी को देखा। वह क्षत्रिय था, असहाय दशा में पड़ा था। हैजा हुआ था। उससे तो बच गया, पर चलने की शक्ति नहीं थी। और उसके साथी सब उसके पास के रुपये-पैसे लेकर उसे वहीं छोड़कर चले गये थे। सम्भवत: निश्चित रूप से मरणासन्न समझकर ही उन लोगों ने ऐसा किया था।

रास्ते के किनारे एक गुफा-जैसी जगह में वह पड़ा था और उसी चट्टी का एक मेहतर ही उसके लिए अन्न-जल लाकर उसकी सेवा कर रहा था। पुलिस के लोग, चट्टी के दुकानदार या ग्राम का मुखिया भी उसकी कोई खोज-खबर नहीं ले रहे थे। उससे पूछने पर वह ये बातें कहते हुए रोने लगा। अनुरोध करते हुए बोला – "स्वामीजी, दुहाई तुम्हारी, मुझे किसी भी तरह नीचे भेज दो।" परन्तु मैं भी तो निरुपाय था। इतने में देखा – भाई भूमानन्द चले आ रहे हैं। वे दर्शन करके लौट रहे थे। दोनों ने विचार करके निश्चय किया कि डॉक्टर केदारनाथ की शरण में जाना होगा, ताकि उसे लमलगढ़ के अस्पताल तक ले जाने की व्यवस्था हो सके। और वैसा ही किया गया। सुना कि भाई भूमानन्द इस समय काश्मीर में ब्रह्मानन्द मठ के महन्त हो गये हैं। डॉक्टर बाबू के पास जाकर सब बताने पर उन्होंने सेठजी को सारी बातें बतायीं। विशेष असुविधा के बावजूद धर्मप्राण सेठ हजारीमल ने उसे एक डण्डी में लमलगढ़ भेज दिया। उस व्यक्ति के ऐसी हालत में रास्ते में पड़े रहते समय यात्रीगण दो-चार पैसे स्वेच्छापूर्वक उसके पास डाल जाते थे। जिसको लेकर वह भंगी उसके लिए खाना आदि खरीद लाता या स्वयं ही तैयार कर देता था। इसके बावजूद उसके पास तीन-चार रुपये बचे हुए थे। वह आदमी सज्जन था। जाते समय बोला – "स्वामीजी, इस हरिजन भाई ने मेरी जान बचाई है और मेरे साथी लोग मुझे मौत के मुँह में छोड़, सब रुपये-पैसे लेकर चले गये। मेरे पास ज्यादा पैसे नहीं हैं, अत: अपने लिए एक रुपया रखकर बाकी सब उसे दे रहा हूँ। भगवान इसका भला करें।" परन्तु हिन्दू-समाज का घृण्य पददलित अस्पृश्य वह भंगी बोला – "मैंने केवल कर्तव्य निभाया है, मुझे रुपये नहीं चाहिए। इन्हें तुम्हीं रखो, घर लौटते समय जरूरत पड़ेगी।" अहा, इस भंगी का कितना बड़ा हृदय था! फिर हम लोगों की ओर उन्मुख होकर कहने लगा – "भगवान की कृपा ही सबसे बड़ी चीज है, पैसा क्या कोई बड़ी चीज है? क्यों महाराज? इस सँसार में श्रीराम को छोड़कर दूसरा भला कौन अपना है! इसी को देखिये न, जब सभी लोग इसे छोड़ कर चले गये, मुड़कर भी नहीं देखा, तब रामजी ने ही इसे देखा। भगवान की बन्दगी ही बड़ी है, क्यों महाराज?" और केवल यही धुन 'रामजी ही अपने हैं' – मेरे कानों में बजने लगी। मन-ही-मन उस महात्मा को प्रणाम किये बिना मैं नहीं रह सका। कौन नीच है, कौन अस्पृश्य है – यह तथाकथित भंगी या फिर वे लोग जो उसे छोड़कर चले जानेवाले स्वार्थ में अन्धे कर्तव्यभ्रष्ट लोग! ❖ (क्रमश:) ❖

कर्म और भाग्य

अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढ़ना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते। ... साधारणत: मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर 'भाग्य' नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नामक वस्तु क्या है और कहाँ रहती है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही तो काटते हैं। हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं।

अतएव अपने दोष के लिए तुम किसी को उत्तरदायी मत समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। ... तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अत: इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपने भविष्य गढ़ डालो। – ***स्वामी विवेकानन्द***

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(१५) पर उपकार बचन-मन-काया

गन्धर्वराज एक बार ऋषि जमदग्नि से मिलने उनके आश्रम में गये। मुनि बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी रेणुका ने बताया, "पतिदेव बाहर गये हैं, आने में विलम्ब होगा। यदि बहुत आवश्यक काम हो, तो उनकी प्रतीक्षा करें।" माता रेणुका ने गन्धर्वराज को बैठने के लिए मृगासन दिया और शीतल जल लाने आश्रम के अन्दर गईं। जल देते हुए आने का प्रयोजन पूछने पर गन्धर्वराज ने बताया कि उनके देश में कुष्ठ रोगियों की संख्या बढ़ गई है। वे उन्हें इस रोग से छुटकारा दिलाने में स्वयं को असमर्थ महसूस कर रहे हैं, इसीलिए ऋषि की सलाह लेने वे आश्रम में आये थे। ऋषि-पत्नी ने सुना, तो उनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उन्होंने सोचा कि पतिदेव न हुए, तो क्या हुआ? वे स्वयं भी तो सेवा-सुश्रूषा में हाथ बँटा सकती हैं। पर पति की आज्ञा लिए बिना बाहर जाना भी अधर्म है। विचार करने पर अन्ततः उन्हें पति की आज्ञा लिए बिना सत्कार्य में जाना अनुचित नहीं लगा। उन्होंने पुत्र परशुराम को सारी बातें बताकर कुष्ठ-रोगियों की शुश्रूषा हेतु स्वयं के जाने का समाचार ऋषि को देने के लिए कहा और वे गन्धर्व-देश के लिए रवाना हुईं।

गन्धर्व देश में जब उन्होंने रोगियों को देखा, तो करुणा से उनके नेत्र अश्रुपूरित हो गये। वे उनकी सेवा में जुट गईं। उसने उनके घावों को साफ कर जड़ी-बूटियों का लेप किया, अपने हाथों से उन्हें जल तथा भोजन दिया। उन्होंने निश्चय किया कि कुछ दिन वे रोगियों की सेवा में दिन बितायेंगी।

बाद में जब जमदग्नि ऋषि आश्रम में आये, तो परशुराम ने उन्हें माता का सन्देश सुनाया। उन्होंने बताया कि माता बिना अनुमति लिये जाना नहीं चाहती थीं, परन्तु रोगियों के दुःख-दर्द की बातें सुनकर वे द्रवित हो गईं और उन्हें विवश होकर राजा के साथ जाने का स्वयं ही निर्णय लेना पड़ा, जिसके लिए उन्होंने खेद व्यक्त किया था।

महर्षि ने पुत्र से गन्धर्व देश जाकर वहाँ की स्थिति देख आने को कहा। परशुराम वहाँ जाकर अपनी माता को कुष्ठ-रोगियों की सेवा में रत देखकर गद्गद हो गये। लौटकर उन्होंने पिता से स्नेहमयी माता की दया-वत्सलता और सेवा-शुश्रूषा का वर्णन किया और उनकी परोपकारवृति की भूरी-भूरी प्रशंसा की।

सुनकर महर्षि बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "बेटा, मनुष्य को केवल अपने परिवार की नहीं, दूसरों का हित भी सोचना चाहिए। संसार में परहित ही सबसे श्रेष्ठ कर्म है। परोपकार से दूसरों को प्रसन्न देखने में जो सन्तोष प्राप्त होता है, वह किसी भी अन्य कार्य से प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए हमें तन-मन-वचन से दूसरों का हित ही सोचना चाहिए।

(१६) अमृतत्व धन से नहीं मिलता

महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं – मैत्रेयी और कात्यायनी। उन्होंने जब गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास लेने का निश्चय किया, तो अपनी इच्छा दोनों पत्नियों को बताते हुए कहा – "मैं चाहता हूँ कि मेरे गृहत्याग के बाद तुम दोनों में कोई भी विवाद न हो, इसलिए मैं अपनी सम्पत्ति तुम दोनों में समान रूप से बाँटना चाहता हूँ।" इस पर मैत्रेयी ने पूछा, "स्वामी, क्या इस सम्पत्ति से मुझे अमरत्व मिलेगा?"

"नहीं" – महर्षि ने उत्तर दिया।

मैत्रेयी बोली – "तो फिर मेरे लिए इस सम्पत्ति का क्या उपयोग?" वह आगे बोली, "जिस सम्पत्ति से मैं अमर नहीं हो सकती, उस सम्पत्ति की मेरे लिए कोई उपयोगिता नहीं। उचित तो यह होता कि आप मुझे अमरत्व प्राप्त करने का मार्ग या साधन बताते। मेरे लिए सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्य – सब कुछ तुच्छ है। मुझे तो उस परम तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए, जिसके ज्योतिर्मय दिव्य रूप का नित्य दर्शन करने से आत्मिक सन्तोष होता है। यह ज्योति मेरे जीवन में चिर प्रकाशित होती रहे – **असतो मा सद्गमय, तसमो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय**।"

याज्ञवल्क्य बोले – "वस्तुतः इस विश्व में लोग धन को ही सर्वस्व मानते हैं। उन्हें सगे-सम्बन्धी प्रिय लगते हैं, पर चेतन और अचेतन सभी जीव और विद्यायें परमात्मा की ही निःश्वास हैं। अज्ञान अवस्था में द्वैत का बोध होता है। पर परमात्म-तत्त्व अनन्त, अपार, अगम्य एवं अगोचर है। उसमें अपने चित्त को लगा लेना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर व परम उपयोगी है। यही ब्रह्मज्ञान है।" **येनाहं नामृतास्याम किमहं तेन कुर्याम्** – जिससे मुझे अमृतत्व नहीं मिलता, उसे लेकर मैं क्या करूँगा – हम भी यदि इस मंत्र को एकाग्रता से सुनें व गुनें, तो निश्चय ही यह जीवन अमृतमय बनेगा। ❖**(क्रमशः)**❖

नाचे उसमें माँ-काली

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने विभिन्न अवसरों पर संस्कृत, बँगला तथा आंग्ल भाषाओं में अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण देव की स्तुतियाँ तथा वन्दनाएँ लिखी थीं। वे सभी परम भाव-व्यंजक हैं। यहाँ पर प्रस्तुत हैं स्वामी विदेहात्मानन्द कृत उन्हीं का हिन्दी गीत रूपान्तरण – सं.)

(बंग भाषा से अनूदित — राग-केदार, ताल-कहरवा)

खिले फूल, मकरन्द-लुब्ध,
उन्मत्त भ्रमर-गुंजन सब ओर,
स्वर्ग-देवता शुभ्र चन्द्र-सम,
हास्य बिखेरें भू की ओर;
शीतल-मन्द मलय के झोंके,
खोल रहे स्मृतियों के द्वार,
उठतीं लहरें सरिता-सर में,
हिलते कमल सहें अलिभार ।।

झाग उठाता, झरना गाता,
गुहा करे प्रतिध्वनि आलाप,
कूज रहे पंछी, पत्तों में
छिपे, कर रहे प्रेमालाप;
उदयमान रवि चित्रकार, निज
स्वर्ण-तूलिका भू पर फेर,
पल भर में अगणित भावों के,
देता है सब रंग बिखेर ।।

तड़ित् गरजते, मेघ तड़पते,
थल-नभ में है रण सब ओर,
अन्धकार से और अँधेरा
निकले, प्रलय-वायु अति घोर,
रक्तिम घोर ज्वाल-विद्युत् की,
कौंध-कौंध दौड़े उसमें;
गरज उछलती फेनिल लहरें,
गिरि-चूड़ा लंघन करने।
भूतल टल-मल घोर शब्द-सह,
डूबी परम रसातल में,
धरती छेद उठ रहीं लपटें,
पर्वतराज चूर्ण पल में ।।

कमल खिले हों नील सरोवर
में, तट पर सुन्दर आवास,
श्वेत फेन से ढँका, द्राक्ष का
हृदय-रुधिर, मृदु बातें, हास;
राग-ताल सह वीणा-झंकृति,
वृद्धि वासना में करती,
व्रज के नर-नारी गण की
साँसें तपतीं, आँखें बहतीं;
बिम्बाधर बाला के नील,
-कमल नेत्रों में भाव अनन्त,
हाथ बढ़ाती, और प्रेम-पिंजर
में प्राण-पखेरू हन्त ।।

बजते भेरी- ढाक- नगाड़े,
चलते वीर कँपे धरती,
तोप करे बम-बम की ध्वनि,
बन्दूकें कड़-कड़-कड़ करतीं;
धूमायित है घोर रणस्थल,
तोप गरजते बारम्बार,
फटता गोला उड़ जाते सब,
हाथी-घोड़े और सवार ।।२४।।

थर-थर काँपे धरती, चलते,
रण को लाखों वीर सवार,
लाते छीन शत्रु-तोपों को,
भेद धुँआ-गोलों की मार;
आगे चलता बल का द्योतक,
झण्डा - दण्ड रक्त से सिक्त,
संग चल रहे पैदल सैनिक,
लिए राइफल वीरोन्मत्त;
गिर जाता जब ध्वजवाहक,
ले अन्य वीर आगे चलता,
बिखरे पद-तल शव वीरों के,
तो भी ना पीछे हटता ।।

देह चाहता सुख, औ चाहे
चित्त विहंग सुधा-संगीत,
मन चाहे मधु-हास, प्राण
आकुल होने को दुःखातीत;
छोड़ चाँदनी अति शीतल,
माँगेगा कौन दुपहरी धूप,
जिसके प्राण चण्ड-रवि वह भी,
चाहे स्निग्ध चन्द्र का रूप;
सुख के लिए सभी पागल हैं,
कौन मूर्ख चाहे दुख-त्रास?
दुख है सुख में, विष अमृत में,
कण्ठ जहर, पर मिटे न आस;
डरें रुद्र से सभी, न चाहें
मृत्युरूपिणी अम्बा को,
उष्ण रक्त-सिंचित असि ले,
वंशी देते जगदम्बा को ।।

सत्य तुम्हीं हो मृत्युरूपिणी,
सुखद कृष्ण माया-छाया,
हृदय छेद अब दूर करो,
सुख-स्वप्न और काया-माया;
तुम्हें मुण्डमाला पहना,
भयभीत, कहें सब 'दयामयी',
अट्टहास से प्राण काँपते,
कहें दिगम्बरि 'दैत्यजयी';
कहते हैं - 'माँ को देखूँगा',
आती हो तो भग जाते,
तुम्हीं मृत्यु, तव कर से ही
सब रोग-महामारी पाते ।।

रे उन्मत्त, भुला दे निज को,
भयंकरी - पीछे मत देख,
दुख माँगे तू सुख पाने को,
पूजा-भक्ति स्वार्थ के हेत;

अजा-कण्ठ की रक्तधार को,
देख हृदय काँपे भय से,
कायर तुम, यह दया नहीं है,
इसका मर्म कहूँ किससे !
तोड़ो वीणा, छोड़ो प्रेम
-सुधा-मोहक - नारी-माया,
सुदृढ़ बढ़ो, गाते समुद्र-वत्,
आँसू बहें, जाय काया ।।

जागो वीर, उठो रण करने,
छोड़ो मिथ्या-स्वप्न-अजात,
सिर पर आकर काल खड़ा है,
भय शोभे न तुम्हें, हे तात;
दुःख-भार इस जग का सारा,
है ईश्वर का ही प्रतिरूप,
है मसान के चिता-मध्य ही,
उनका मन्दिर दिव्य-अनूप ।।

जीवन का संग्राम-सतत यह,
उनकी ही पूजा समझो,
सदा पराजय हो, तो भी यह,
भीत करे न कभी तुमको;
स्वार्थ-लोभ-यश चूर्ण करो निज,
बन जाये तव हृदय मसान,
तब तो उसमें नृत्य करेंगी,
माँ-काली आनन्दित-प्राण ।।

अम्बा-स्तोत्रम्

(संस्कृत से अनूदित)
(राग - केदार, ताल - कहरवा)

मंगलमूर्ति कौन हो तुम ! सुख-दुख दोनों हाथों में तव,
प्रबल तरंगों से आलोड़ित, करती हो सागर-सा भव;
भग्न शान्ति की पुनः स्थापना, करने को ही क्या अविराम,
बहु प्रकार से तुम प्रयास, करती रहती हो माँ, निष्काम ।।१।।

जो जीवों के कर्मों के फल, प्रतिपल दान-निरत रहतीं,
हुए कर्मक्षय जिन लोगों के, चिर-निर्मुक्त उन्हें करतीं;
ज्ञात मुझे निश्चित, वे ही मम कर्मपाश धारण करतीं,
वे ही मातु भवानी हो, चिर दिन की मेरी वरदात्री ।।२।।

पाप-पुण्य जो भी इस जग में, हैं कपाल-अंकित सबके,
अथवा कर्म तथा उसका फल, सम्भव नहीं बिना जिनके;
जिनकी निज इच्छा-डोरी से, सभी नियम हैं परिचालित,
उन्हीं आदि-कारण-रूपा देवी, का हूँ मैं चिर आश्रित ।।३।।

प्रबल शक्तिशाली विभूतियों से जिनकी, भूषित संसार,
जन्म-मृत्यु का जाल बिछा वे, करतीं भव-समुद्र-विस्तार;
अविकारी से विश्व सृजन कर, उसका भी करती हैं नाश,
छोड़ शरण उनकी अब बोलो, और करूँ मैं किसकी आस।।४।।

कमल-नेत्र तव शत्रु-मित्र पर, पड़ते साम्य-भाव के साथ,
सुखी-दुखी - दोनों के प्रति, सस्नेह बढ़ाती हो तुम हाथ;
चिर-अमरत्व मृत्यु-छाया - दोनों ही कृपाबिन्दु तव मात,
हे परमेश्वरि, शुभ कटाक्ष तव, बनी रहे मुझ पर दिन रात ।।५।।

कहाँ परम कल्याणी माँ तुम, और कहाँ मैं शिशु मतिमन्द,
नन्हें हाथों जगद्-विधात्री को धरने मानो ये छन्द;
लक्ष्मी जिनके पद ध्याती हैं, अभय पदों में है जिनके,
सेवाधर्मी करते वन्दन, मैं आश्रित उन चरणों के ।।६।।

निजकृत मधुमय लीला सह तुम, सदा मुझे लेकर चलती,
अतिशय दुखमय पथ से होकर, जब तक सिद्धि नहीं मिलती;
भलीभाँति योजित करतीं, इस जगती में जो मति मेरी,

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (११)

स्वामी निर्वेदानन्द

तांत्रिक साधना :

वैष्णव-मत के समान ही तंत्रमत भी भक्तियोग की एक विशिष्ट साधना-क्रम का निर्देश देता है। यह भी एक सर्वांगीण साधना-पद्धति है। इसमें भी साधना की शुरुआत से लेकर उसकी चरम परिणति तक के सारे विधान मिल जाते हैं। इस तांत्रिक साधना में ज्ञान, भक्ति, योग (राजयोग) तथा कर्म का अद्भुत समन्वय है और यह हर स्तर के साधक के लिए समान रूप से उपयोगी है। जीवात्मा तथा परमात्मा के मूल एकत्व पर आधारित यह साधना साधक को स्थूल वस्तुओं पर आधारित विविध अनुष्ठानों के माध्यम से धीरे-धीरे चरम सत्य की अनुभूति कराते हुए मोक्ष की ओर आगे बढ़ाती है।

तंत्र-शास्त्र में विभिन्न श्रेणी के साधकों के लिए भिन्न-भिन्न साधनाओं की व्यवस्था है। आत्मोन्नति के सोपान की सबसे निचली सीढ़ी के साधकों के लिए एक अलग विधान है। इस श्रेणी के लोग तामसिक स्वभाव के अर्थात् जड़बुद्धि, अज्ञानी तथा आलसी होते हैं। इन्हें प्राय: पशु के ही स्तर का कहा जा सकता है। इनकी क्रमिक उन्नति के लिए निर्दिष्ट तांत्रिक विधान को 'पश्वाचार' कहते हैं। सोपान के बीचो-बीच में जो राजसिक स्वभाव के अर्थात् बलवान, उत्साही तथा अति महत्त्वाकांक्षी लोग होते हैं, इनके लिए निर्दिष्ट विधान को 'वीराचार' कहते है।

इन दोनों श्रेणियों के लोग बहुधा सिद्धियाँ अथवा ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति करने के उद्देश्य से ही तांत्रिक साधना अपनाते हैं। इसलिए उनकी यह साधना प्रवृत्ति-मार्ग के अन्तर्गत आती है। वस्तुत: प्रवृत्ति-मार्ग के प्राचीन देवपूजा का स्थान इस समय तांत्रिक पूजा ने ग्रहण कर लिया है। राजयोग की ही भाँति तांत्रिक साधनाओं के द्वारा भी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। अस्तु, सिद्धि या भोग-सुखों की प्राप्ति हेतु साधना भक्तियोग के अन्तर्गत नहीं आती। क्योंकि भक्तियोग निर्मल, नि:स्वार्थ, तीव्र तथा अनन्य प्रेम के द्वारा भगवान को पाने का मार्ग है।

एक अन्य श्रेणी के साधक आध्यात्मिक उन्नति के सोपान के सर्वोच्च स्थान पर रहते हैं। वे सात्त्विक स्वभाव के अर्थात् स्वभावत: ही शान्ति, सन्तोष, पवित्रता तथा निर्मल दृष्टि आदि सम्पदा से युक्त होते हैं। वे लोग अपने अन्तर में ही इन्द्रिय-सुखों की असारता को समझकर ईश्वर तथा पूर्णता की उपलब्धि करने को आतुर रहते हैं। इस श्रेणी के साधकों के लिए निर्दिष्ट तांत्रिक-विधान को 'दिव्याचार' कहते हैं। इस साधना का उद्देश्य है अनन्यकाम होकर अनुराग की सहायता से ईश्वर-प्राप्ति। यही दिव्याचार का वैशिष्ट्य है और इसी कारण यह भक्तियोग के अन्तर्गत आता है।

हमारे देश में चौसठ प्रमुख तंत्र प्रचलित हैं। इन तंत्रों में उपरोक्त तीन श्रेणी के साधकों के लिए सैकड़ों तरह के भिन्न-भिन्न कर्मकाण्डों की व्यवस्था दी हुई है। तथापि इन विभिन्न अनुष्ठानों में कुछ एकतामूलक सूत्र भी दीख पड़ते हैं।

सभी तंत्र ईश्वर की शक्ति के रूप में आराधना करने का निर्देश देते हैं। दुर्गा, चण्डी, काली, तारा, भुवनेश्वरी, जगद्धात्री आदि शक्ति-मूर्तियाँ ही तांत्रिकों की उपास्य हैं। जैसे विष्णु के उपासकों को वैष्णव कहते हैं, वैसे ही शक्ति के उपासकों को 'शाक्त' कहा जाता है। शाक्त अपनी इष्टदेवी को जगदम्बा का रूप मानते हैं। इन दिव्य मूर्तियों में रूपायित जगदम्बा ही सम्पूर्ण चराचर विश्व का सृजन, पालन तथा संहार करनेवाली हैं। काल उन्हें बाँध नहीं सकता, क्योंकि वे अनादि और अनन्त सनातनी हैं। देश उन्हें सीमित नहीं कर सकता, क्योंकि वे असीम और सर्वव्यापक हैं। वे चिद्रूपा हैं, इसलिए उन्हें चैतन्यमयी कहते हैं। वे लीलामयी हैं, सृष्टि-स्थिति-प्रलय उनका खेल है। उनकी दिव्य शक्ति सात्त्विक, राजसिक और तामसिक – इन तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है, इसलिए उन्हें त्रिगुणमयी कहते हैं। अपने तामसिक अंश के द्वारा वे जड़ पदार्थ बनी हैं। अपने राजसिक अंश से वे चराचर को आन्दोलित करनेवाली जड़ एवं प्राण-शक्ति के रूप में प्रकट हुई हैं। और अपने सात्त्विक अंश से वे प्रत्येक जीव में कर्ता एवं भोक्ता के रूप में प्रकट होती हैं। वस्तुत: इस जगत् में नित्य परिवर्तनशील समस्त नाम-रूपों के माध्यम से वे ही मूर्त हुई हैं। वे ही वस्तुत: नित्य निर्विकार निर्गुण ब्रह्म से निर्गत विश्व की रूपायनी शक्ति हैं।

सगुण ईश्वर के विषय में हिन्दुओं की यही धारणा है। वे स्त्री या पुरुष कुछ भी नहीं हैं। तथापि वे भक्तों की रुचि के अनुसार स्त्री या पुरुष का रूप धारण करते हैं। वैष्णव, शैव, सौर तथा गाणपत्य सम्प्रदाय पुरुष रूप पसन्द करते हैं। केवल शाक्त लोगों के लिए ही वे मातृरूपा हैं। ईश्वर का यह मातृरूप निश्चित रूप से भक्त और भगवान के बीच एक बड़ा ही मधुर सम्पर्क जोड़ता है। भक्त एक शिशु के समान स्वयं को जगदम्बा के स्नेहपूर्ण आश्रय में समर्पित कर देता है।

जीवात्मा और परमात्मा अभेद हैं। और सारे नाम, रूप तथा विकार द्वारा व्यक्त होनेवाली शक्ति ब्रह्म से ही उद्भूत है

– इस तत्त्व का स्मरण करा देना ही तांत्रिक अनुष्ठानों की एक अन्य विशेषता है। जगन्माता की अर्चना के पूर्व साधक को सोचना पड़ता है कि उसकी आत्मा परमात्मा में मिल गई है और सम्पूर्ण विश्व शून्य में विलीन हो गया है। और इसके बाद मानो उसी सत्ता से उपासक की जीवात्मा तथा उसकी इष्टदेवी की दिव्य मूर्ति का आविर्भाव होता है। उपासक तब एक सांकेतिक उपाय से अपनी दिव्य आत्मा के स्पर्श के द्वारा देवी की मृत्तिका-मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करता है। इस अनुष्ठान के बाद उस मूर्ति को जगदम्बा का सजीव विग्रह माना जाता है और तभी उन्हें पूजा, अर्घ्य आदि निवेदित किया जाता है।[१]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा की दिव्यता-विषयक वेदान्त के सूक्ष्म तत्त्व की क्रमशः धारणा करने में तंत्र कितना सहायक है। मोक्षरूपी परम सत्य की अनुभूति करने में तांत्रिक साधन मानो प्रयोगशाला का कार्य या शिशु-शाला की शिक्षा है। विशुद्ध विचार तथा अमूर्त चिन्तन के द्वारा ज्ञानयोगी जिसे प्राप्त करना चाहते हैं, तांत्रिक साधक भी अपने कर्मकाण्ड के द्वारा उसी की प्राप्ति में प्रयासी हैं।

एक अन्य विषय में भी तंत्रों में समानता दीख पड़ती है। वे सभी (ह्रीं, क्लीं आदि) कुछ बीजमंत्रों के जप पर बल देते हैं। प्रत्येक बीज जगदम्बा के किसी विशेष भाव से युक्त है। यद्यपि प्रत्येक रूप में वे ही विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश करनेवाली परमेश्वरी हैं, तथापि भिन्न-भिन्न मूर्तियों से मानो उनका भिन्न-भिन्न भाव व्यक्त होता है। काली, तारा, षोडशी, चण्डी, दुर्गा, जगद्धात्री आदि में से जैसे प्रत्येक की नाम-रूप तथा महिमा है, वैसे ही उनका भिन्न-भिन्न प्रतीक या बीजमंत्र भी है। तंत्र द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से इन बीजमंत्रों का जप करने से साधक का मन पवित्र हो जाता है और क्रमशः वह अपनी इष्टदेवी के सान्निध्य का बोध करने लगता है। सामान्यतः मंत्रजप के साथ-साथ इष्टमूर्ति का ध्यान भी किया जाता है, क्योंकि वह कहीं अधिक फलदायी है।

एक अन्य दृष्टि से भी तंत्र के अनुष्ठानों में साम्य दीख पड़ता है। और तंत्र-साधना का यह पक्ष ज्ञानयोग के ठीक विपरीत है। ज्ञानयोग साधक को सभी प्रलोभनों से दूर रहने का निर्देश देता है और तंत्र वीर के समान प्रलोभनों का सामना करके उन पर विजय पाने को कहता है। तंत्र के कुछ विधानों के अनुसार साधक को विविध आकर्षक विषय-भोगों से सम्पर्क करना पड़ता है, और फिर उनसे मन को उठाकर इष्टदेवी के चिन्तन में लगाना पड़ता है। नैसर्गिक आसक्तियों को ऊपर उठाकर उसे ईश्वर-प्रेम में रूपान्तरित करने हेतु ही इस तरह के तांत्रिक अनुष्ठानों की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ इसकी कुछ क्रियाओं में साधक सुरा तथा नारी का उपयोग करता है; पर यह नशे या सम्भोग हेतु नहीं होता। साधक इन प्रलोभनों के प्रबल आकर्षण की उपेक्षा करके मन को इष्ट-देवी के चिन्तन में स्थिर करता है। निस्सन्देह यह एक बड़ी कठिन साधना है, परन्तु निर्विघ्न सम्पन्न हो जाने पर इनके द्वारा मानो एक ही झटके में इन्द्रियाँ परास्त हो जाती हैं।

यद्यपि यथार्थ तंत्र-साधना के इस विशेष दृष्टिकोण में कुछ भी निन्दनीय नहीं है, पर इन दुस्साहसिक क्रियाओं के विधान के कारण ही तंत्र बदनाम हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति होते ही मुक्ति हो जाती है और वह तभी सम्भव है, जब मन उनके चिन्तन में पूर्ण रूप से डूब जाय। वस्तुतः यही तत्त्व सभी योगों की नींव है। इस परम गति को पाने के लिए ही तंत्र में इस विशिष्ट पद्धति का विधान है।

जिन भावुकतापूर्ण आवेगों के प्रभाव से मानव-मन स्वतः ही अन्य सभी विषयों से उठकर एकाग्र हो जाता है, उन्हीं आवेगों को साधना में लगाने के लिए ही तंत्र ने यह विधान किया है। अदम्य यौन-आकर्षण या आसन्न मृत्यु का अनिवार्य भय क्षण मात्र में ही व्यक्ति को एकाग्र-चित्त कर देता है। साधक को इसी प्रकार के एक अदम्य आवेग में डाल देने से उसका समग्र मन स्वयं ही एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार शुरू में स्थूल उपाय से मन को पूर्ण रूप से एकत्र करने के बाद उसे इष्टदेवी के चिन्तन में स्थिर करने के उद्देश्य से ही तंत्र में ऐसा विधान है। इस पद्धति से सहज ही लक्ष्य सिद्ध हो जाता है। यह व्यवस्था मानो वैसे ही है, जैसे खगोल-शास्त्री अपनी दुरबीन को पहले पृथ्वी के ही किसी दूरवर्ती स्थान पर केन्द्रित करता है और तदुपरान्त उसे सुदूर-स्थित ग्रह-नक्षत्रों की ओर मोड़ता है।

इसी उद्देश्य से कुछ तांत्रिक अनुष्ठानों में इष्टध्यान के पूर्व सुरा तथा नारी के सम्पर्क से साधक की इन्द्रिय-लालसा को उद्दीप्त करने का विधान है। उन तांत्रिक क्रियाओं का भी यही उद्देश्य है, जिनमें भयंकर परिवेश में आसन लगाकर इष्टदेवी की आराधना होती है। अमावस्या के घोर अँधेरे में श्मशान में मुर्दे पर बैठकर जप-ध्यान भी एक ऐसी ही तांत्रिक क्रिया है।

निस्सन्देह तांत्रिकों की ये क्रियाएँ साधक को तीव्र वेग से लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। पर असावधान साधक के लिए यह घातक भी है। विशेषकर त्याग-वृत्तिवाले साधक को इसे अपनाते समय खूब सावधान रहना होगा। साधक के संयम का बाँध जरा भी शिथिल हो, तो इन कठिन तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर, जो अदम्य आवेग प्रकट होते हैं, वे क्षण भर में ही उसे पथभ्रष्ट करके अधःपतित कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उसकी ईश्वर-प्राप्ति की सारी चेष्टा का निश्चित परिणाम होता है शारीरिक तथा मानसिक विनाश।

१. देखिये – आगे द्वितीय भाग (२०वाँ अध्याय)

अस्तु, तंत्रमत पर चलकर अनेक साधकों ने सिद्धि प्राप्त की है। उनमें से बंगाल के रामप्रसाद और वामाक्षेपा बड़े प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में भी श्रीरामकृष्ण ने तांत्रिक साधना के अमोघ फलरूप अनेक विचित्र दिव्य अनुभूतियाँ प्राप्त करके तंत्रशास्त्र की यथार्थता को प्रमाणित किया है।

निराकार उपासना

हिन्दू-धर्म निराकार पर सगुण ईश्वर की उपासना का भी विधान करता है। आज के शिक्षितों में बहुत-से लोग ईश्वर के साकार रूप में विश्वास नहीं करते। तथापि साधना के क्षेत्र से रूप को तिलांजलि देते समय बड़ी सजगता की जरूरत है। रूप को त्यागना जैसा सहज प्रतीत होता है, वैसा नहीं है। अगाध विद्वत्ता के बावजूद व्यक्ति धर्मराज्य में निरा बालक भी हो सकता है और एक शिशु के समान ही उसे भी अपनी शिक्षा प्राथमिक शाला से ही शुरू करनी पड़ सकती है।

फिर धर्मराज्य में स्थूल विचार-बुद्धि के ऊपर पूर्ण निर्भरता सुरक्षित नहीं है। सम्भव है हमारी बुद्धि बल देकर कहे कि अनन्त ईश्वर का सीमित रूप हो ही नहीं सकता। अच्छी बात है। परब्रह्म निराकार है, यह बात हिन्दू धर्म स्वीकार करता है, परन्तु केवल इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म के मतानुसार वे निर्गुण भी हैं। क्या उस एक अखण्ड सत्ता से ही भले-बुरे, दया-क्रूरता, कठोरता-कोमलता आदि परस्पर-विरोधी गुणों की उत्पत्ति नहीं होती? जिन परब्रह्म को रूप की सीमा में लाना अयौक्तिक प्रतीत होता है, उन्हें कुछ विशेष गुणों में आबद्ध करना भी क्या असंगत नहीं लगता? तथापि हिन्दू धर्म इस सत्य का प्रचार करता है कि यह निराकार-निर्गुण ब्रह्म ही जगत् का एकमात्र कारण है।[२] किसी प्रकार ये नित्य निर्विकार परब्रह्म ही इस विश्व के रूप में और विश्व-नियन्ता सगुण ईश्वर के रूप में प्रकट होते हैं या प्रतीयमान होते हैं। यह परस्पर-विरोधी अघटन का घटन ही माया है।

जो निर्गुण ब्रह्म अपनी अनिर्वचनीय माया के सहारे स्वयं को विश्व के सारे नाम-रूपों में ढाल सकते हैं, वे निश्चित रूप से किसी भी दिव्य-मूर्ति में प्रकट हो सकते हैं। उनकी क्षमता की सीमा निर्धारित करने की योग्यता भला किसमें है? हमारी बुद्धि क्या इस विषय में सही राय देने में समर्थ है?

फिर, किस युक्ति के आधार पर हम अनन्त ईश्वर को अपना स्वर्गस्थ पिता मानते हैं और विश्वास करते हैं कि वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं, न्याय का विधान करते हैं और करुणा बरसाते हैं? देश, काल, निमित्त से अतीत उन परम सत्ता को इस प्रकार संकीर्ण करने का समर्थन करने का हमारी बुद्धि को क्या अधिकार है? निश्चित रूप से उन परम अनन्त गुणातीत को रूप-गुण की किसी भी सीमा में नहीं लाया जा सकता। वे मन-वाणी के अगोचर, सर्वातीत तुरीय हैं।[३] ऐसे परब्रह्म को निश्चय ही कोई अपना उपास्य नहीं बना सकता। तथापि हम अपने मन को ईश्वरोन्मुख करने हेतु उन्हें करुणामय आदि कुछ विशेष गुणों से युक्त के रूप में चिन्तन करते हैं। इससे परमार्थ की ओर हमारी प्रगति सुगम हो जाती है। यदि हम अपनी साधना में सुविधा के लिए उन्हें इस प्रकार सगुण मान सकें, तो फिर उसी उद्देश्य से किसी भी शास्त्र-विहित साकार मूर्ति में उनका ध्यान करने में समस्या ही क्या है? बल्कि इससे ईश्वर-चिन्तन में मनोनियोग और भी सहज हो जाता है।

वस्तुत: हमारी मनोरचना ऐसी है कि वह किसी निराकार वस्तु की धारणा कर ही नहीं सकता। मन केवल मूर्त वस्तु को ही पकड़ सकता है। इसीलिए साकार उपासना के विरोधी लोग भी साधना के क्षेत्र में रूप की आवश्यकता को पूर्णत: अस्वीकार नहीं कर सकते। ईश्वर को स्वर्गस्थ पिता मानना, उनके लिए 'आप', 'तुम' 'वे' आदि व्यक्तिवाचक सर्वनामों का प्रयोग करना, स्वर्ग को उनका निवास-स्थान बताना – ये सभी साकार कल्पना के ही रूप हैं। फिर उपासना-मन्दिरों के विशेष स्थापत्य और उपासना-सम्बन्धी आचार-अनुष्ठान आदि भी हमारे मन की मूर्ति-निर्भरता का भी परिचय देते हैं।

प्रतिमा तथा प्रतीक के द्वारा ईश्वर-उपासना को त्यागने के पूर्व हमें इन बातों की विवेचना करके इनका सत्यापन कर लेना उचित होगा। स्थूल बुद्धि-विचार की दाम्भिकता व्यक्ति को नास्तिकता की ओर ले जाती है और जड़वादी बना डालती है। जो लोग साधन-पथ में इतने अग्रसर हो चुके हैं कि प्रतीक या प्रतिमा की जरूरत का बोध नहीं करते, केवल वे ही सगुण-निराकार की उपासना के अधिकारी हैं।

ऐसे साधक ईश्वर की सर्वव्यापी सत्ता पर ध्यान करेंगे। ऐसे ध्यान में सहायता के लिए कुछ रूपकों का सहारा लिया जा सकता है। जैसे मछली अनन्त जलराशि से परिवृत्त होकर समुद्र-गर्भ में निवास करती है, अनन्त ब्रह्म-समुद्र का साधक भी वैसे ही स्थित है, ऐसा ध्यान कर सकता है। अथवा वह चिन्तन कर सकता है कि जैसे खाली घड़ा भीतर और बाहर वायु या आकाश से पूर्ण या परिवृत्त है, वैसे ही ईश्वर भी उसे भीतर-बाहर से पूर्ण किये हुए स्थित हैं। हिन्दू-शास्त्रों में ऐसे निराकारवादी भक्तों के लिए उपयोगी भजन-स्तोत्र, पूजा-पद्धति आदि की भी व्यवस्था है। इस पथ के सच्चे अधिकारी यदि हार्दिक श्रद्धा के साथ ईश्वरोपासना करें, तो वे भी अन्य भक्ति-योगियों के समान निश्चित रूप से परमार्थ-लाभ कर सकेंगे।

भक्तियोग के प्रत्येक सम्प्रदाय के असंख्य साधक सिद्ध होकर महापुरुष हुए हैं। हिन्दुओं के आध्यात्मिक इतिहास के पृष्ठ ऐसे असंख्य उदाहरणों से पूर्ण हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

२. ब्रह्मसूत्र, १/१/२   ३. तैत्तिरीय उपनिषद्, २/९/१
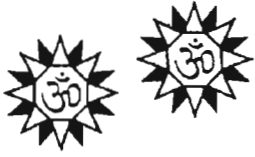
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१)

भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ पहली बार आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर के अंकों में, फिर १९४५ में प्रकाशित स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंक में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इसके अनुवादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

काल के दीर्घ अन्तराल के बाद बीच-बीच में एक ऐसा व्यक्ति हमारे इस भूमण्डल पर आ पहुँचता है, जो असन्दिग्ध रूप से किसी अन्य लोक से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो इस दुखपूर्ण संसार में भी अपने उस सुदूरवर्ती प्रदेश की महिमा, शक्ति तथा दीप्ति का कुछ अंश ले आता है। इस मर्त्यलोक का न होकर भी वह मनुष्यों के बीच विचरता है। वह मानो एक तीर्थयात्री है, एक अजनबी – जो केवल एक रात ही यहाँ ठहरता है।

वह अपने आसपास के लोगों के जीवन से स्वयं को सम्बद्ध पाता है; उनके हर्ष-विषाद का भागीदार बनता है; उनके साथ सुखी और दुखी भी होता है; परन्तु इन सब के बीच वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है; कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का उद्देश्य क्या है! अपने दिव्यत्व की बात उसे कभी विस्मृत नहीं होती। उसे सदैव स्मरण रहता है कि वह महान्, तेजोमय तथा महिमामय आत्मा है।

वह जानता है कि वह उस अवर्णनीय दिव्य लोक से आया है, जहाँ सूर्य या चन्द्र की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह लोक ज्योतियों की ज्योति से आलोकित है। वह जानता है कि जब 'ईश्वर की सभी सन्तानें आनन्द के लिए एक साथ गान कर रही थीं', उसके बहुत पहले भी उसका अस्तित्व था।

ऐसे एक मनुष्य को मैंने देखा है, उसकी वाणी सुनी है और उसके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित की है। उसी के चरणों में बैठकर मैंने अपनी आत्मा का अनुराग अर्पित किया।

इस प्रकार का मनुष्य सभी तुलनाओं के परे है, क्योंकि वह सभी सामान्य पैमानों तथा आदर्शों के दायरे में नहीं आते। अन्य लोग मेधावी हो सकते हैं, परन्तु उनका मन आलोकमय होता है, क्योंकि वे ज्ञान के मूल स्रोत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम हैं। वे साधारण लोगों के समान ज्ञानार्जन की मन्थर प्रक्रियाओं के द्वारा सीमाबद्ध नहीं होते। अन्य लोग महान् हो सकते हैं, परन्तु उनका वह महत्त्व उनके अपनी ही श्रेणी के अन्य लोगों की तुलना में हो सकता है। अन्य लोग अपने संगियों की तुलना में अधिक सज्जन, बलवान या प्रतिभाशाली हो सकते हैं, परन्तु यह सब केवल तुलना की बात है। एक सन्त साधारण मनुष्य से अधिक पवित्र, अधिक पुण्यवान और अधिक निष्ठावान हुआ करते हैं।

परन्तु स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कोई तुलना ही नहीं हो सकती। उनकी अपने आप में एक अलग ही श्रेणी है। वे एक ऐसी ज्योतिर्मय विभूति हैं, जो एक सुनिर्दिष्ट उद्देश्य के लिए किसी उच्चतर मण्डल से इस मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुए हैं। काश, हम समझ पाते कि वे इस पृथ्वी पर अधिक काल तक नहीं ठहरेंगे!

यदि ऐसे व्यक्ति के जन्म पर यदि प्रकृति स्वयं ही आनन्द मनाये, स्वर्ग के द्वार उन्मुक्त हो जायँ और देवदूत कीर्तिगान करें, तो इसमें भला आश्चर्य की क्या बात!

धन्य है वह देश, जहाँ उनका जन्म हुआ! धन्य हैं वे लोग, जो उस समय पृथ्वी पर उपस्थित थे! और त्रिवार धन्य हैं वे कुछ लोग, जिन्हें उनके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला!

हमारे गुरुदेव और उनका सन्देश

जीवन में कुछ ऐसे भी कालखण्ड आते हैं, जब जीवन अबाध रूप से नीरसता के एक भयंकर स्रोत के रूप में बहता जाता है। खाना, सोना और बातें करना – इन्हीं का उबाऊ चक्र चलता रहता है। अति साधारण घिसे-पिटे विचार और रोजमर्रे की जिन्दगी! कोई दुखद घटना होती है और हमें झटका देकर क्षण भर के लिये शान्त कर देती है। परन्तु हम शान्त नहीं रह सकते। दुख या सुख – कोई भी हमारे इस जीवन के दोल-चक्र को रोक नहीं पाता। जीवन, निश्चित रूप से केवल इतना ही नहीं है। हम केवल इतने भर के लिए यहाँ नहीं हैं। बेचैनी आती है। हम किस चीज की प्रतीक्षा कर रहे हैं?

फिर एक दिन वह हो जाता है – वे अद्‌भुत चीजें, जिनका हम इन्तजार कर रहे थे, जो हमारी जानलेवा नीरसता को दूर करके हमारे सम्पूर्ण जीवन को एक नयी दिशा प्रदान करती है, और जो अन्ततः हमें एक सुदूर देश में ले जाकर भिन्न प्रथाओं
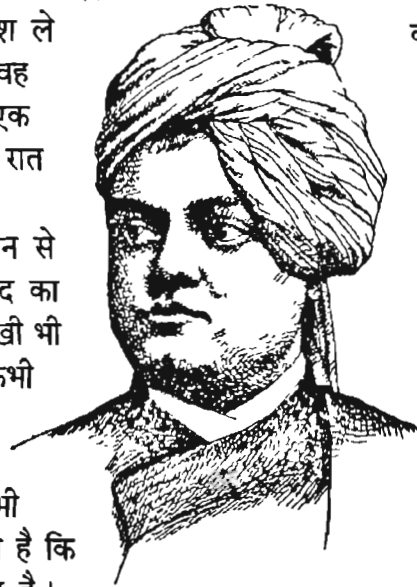
वाले, जीवन के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले ऐसे अद्भुत अजनबी लोगों के बीच स्थापित कर देती है, जो जानते हैं कि जीवन का उद्देश्य क्या है तथा वे किस चीज की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम भी प्रारम्भ से ही उनके प्रति एक विचित्र आत्मीयता का बोध करने लगते हैं। और तब हमारी बेचैनी सदा-सर्वदा के लिए शान्त हो जाती है।

अनेक जन्मों की असीम पीड़ाओं, संघर्षों तथा विजय के बाद धन्यता की प्राप्ति होती है। परन्तु उसके काफी बाद तक उसकी प्रतीति नहीं होती। एक छोटा-सा बीज एक विराट् वटवृक्ष में विकसित हो जाता है। समतल भूमि से कुछ फीट की ऊँचाई होने से ही नदी का प्रवाह निर्धारित हो जाता है कि वह उत्तर की ओर बहते हुए अन्ततः बर्फीले उत्तरी ध्रुव में पहुँचेगी अथवा दक्षिण की ओर बहते हुए अन्ततः कैस्पियन या काले सागर के उष्ण जल में पर्यवसित होगी।

१८९४ ई. की फरवरी की एक सर्द रात को जब मानो अनिच्छापूर्वक ही मैं डिट्राएट के यूनीटेरियन चर्च में एक व्याख्यान सुनने को निकली, तो मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं ऐसा कुछ करने जा रही हूँ, जो मेरे जीवन की पूरी धारा को ही बदल कर रख देगा और जो इतने विराट् महत्त्व का होगा कि जिसका अपने पहले के जीवन में ज्ञात किसी भी पैमाने से आकलन नहीं किया जा सकेगा। व्याख्यान सुनना तो उस जानलेवा नीरसता का एक हिस्सा ही बन चुका था। उनमें शायद ही कोई नयी या उन्नयन-कारक बात सुनने को मिलती थी। उस वर्ष की सर्दियों में डिट्राएट में आनेवाले सभी धर्म-प्रचारक अस्वाभाविक रूप से ऊबाउ ही रहे थे। उन लोगों के प्रति मेरा मोहभंग इतना प्रबल था कि मैंने सारी आशाओं के साथ ही, अन्य कुछ भी सुनने की इच्छा का त्याग कर दिया था। अतएव मैं बड़ी अनिच्छापूर्वक ही और केवल अपनी मित्र श्रीमती मेरी सी. फंकी के अनुरोध को स्वीकार कर लेने के कारण ही 'भारत से आये एक संन्यासी – विवेकानन्द' का वह विशेष व्याख्यान सुनने गयी। फंकी अपने सुन्दर आशावादी स्वभाव के कारण अब भी अपनी इस भ्रान्ति को पाले हुए थी और विश्वास करती थी कि किसी दिन उसे 'कुछ' मिल जायेगा। हम 'भारत से आगत व्यक्ति' को सुनने गयीं। निश्चय ही, हमने अपने असंख्य जन्मों के दौरान कोई भी इतना महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया था! क्योंकि पाँच मिनट सुनते ही हमारी समझ में आ गया कि हमें वह स्पर्श-मणि मिल गयी है, जिसकी हम दीर्घ काल से तलाश कर रहे थे। एक साथ ही हम दोनों के मुख से यह उद्गार निकल पड़ा – "यदि हम इससे वंचित रह जाते ... !!!"

जिन लोगों ने स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व के विषय में काफी कुछ सुन रखा है, उन्हें यह जानकर विचित्र लगेगा कि जो पहली चीज लोगों पर अमिट छाप छोड़ती थी, वह उनका व्यक्तित्व नहीं था। पश्चिमी देशों में बहुधा कृशकाय तपस्वी जैसे व्यक्ति को ही आध्यात्मिकता का पर्याय माना जाता है, पर मंच पर कदम रखनेवाला वह सशक्त ओजस्वी व्यक्ति वैसा बिल्कुल भी न था। एक दुबला-पतला सन्त वहाँ सबकी समझ में आता है, परन्तु एक शक्तिमान सन्त के बारे में भला किसने सुना था? इस रहस्यमय व्यक्ति से निःसृत होनेवाली शक्ति इतनी प्रबल थी कि उसके समक्ष सभी मानो सहमे हुए थे। उनकी शक्ति अभिभूत कर देनेवाली थी, सामने आनेवाले सब कुछ को बहाकर ले जानेवाली थी। उन प्रारम्भिक अविस्मरणीय क्षणों में भी इसका बोध हो रहा था। बाद में हमने इस शक्ति को सक्रिय रूप में भी देखा। उनका मन, वह अद्भुत मन ही सबसे पहले प्रभावित करता था। उस मन की भव्यता, महिमा और उसकी गरिमा का एक क्षीण आभास देने के लिए भी शब्द असमर्थ हैं। उनका वह मन दूसरों के, यहाँ तक कि जिन्हें हम 'जीनियस' कहते हैं, उनके मनों से भी इतनी उच्चतर कोटि का था कि उसकी संरचना ही कुछ भिन्न प्रकार की लगती थी। उस मन के विचार इतने स्पष्ट, इतने सबल और इतने उदात्त थे कि यह विश्वास करना कठिन था कि वे किसी सीमाबद्ध मानव की बुद्धि से निःसृत हुए होंगे। तथापि, उस मन से प्रवाहित होने वाली वह कुछ अद्भुत-सी चीज और वे विलक्षण विचार, सब कुछ सुपरिचित-सा था। मैं कह उठी, "मैं उस मन को पहले से ही जानती हूँ।" यदि सूर्य की किरणों को एकत्र कर उन्हें एक जगह केन्द्रित किया जाय, तो जो लालिमा-युक्त सुनहरी लौ प्रगट होती है, वे उसी के जैसे हमारे समक्ष प्रकटे।

सुदूर भारत से आये ये धर्म-प्रचारक मुश्किल से तीस वर्ष के रहे होंगे। कालातीत यौवन के प्रतीक होकर भी मानो वे प्राचीन काल के एक ज्ञानवृद्ध थे। जीवन में पहली बार हमें भारत का युगों पुराना सन्देश – आत्मतत्त्व की बातें सुनने को मिलीं।

वे मानो एक सुन्दर काश्मीरी शाल का निर्माण करते हुए चमकीले तथा रंग-बिरंगे ताने-बाने बुनते रहे और श्रोतागण मंत्रमुग्ध होकर उन्हें सुनते रहे। बीच में कहीं वे उपहास का धागा डाल देते, तो कहीं त्रासदी का, और उसमें बहुत-से धागे गहन चिन्तन, आकांक्षाओं, उदात्त आदर्शवाद तथा परम ज्ञान के भी हुआ करते। पर इन सभी तानों के बीच भारत के परम पवित्र शिक्षा – मानव के दिव्यत्व, उसमें अन्तर्निहित शाश्वत पूर्णता का बाना भी विद्यमान रहता। और वह पूर्णता क्रमशः उपलब्धि की वस्तु नहीं, अपितु वर्तमान सच्चाई थी – **तत् त्वम् असि** – तुम अभी वह हो। कुछ भी करना नहीं है, बस इसका बोध कर लेना है। यह अनुभूति तत्काल पलक झपकते भी हो सकती है या इसमें करोड़ों वर्ष भी लग सकते हैं, परन्तु "सभी लोग निश्चित रूप से उस स्वर्णिम ऊँचाई तक पहुँचेंगे।" इस सन्देश को युक्तियुक्त रूप से ही

'आत्मा का अद्‌भुत सुसमाचार' कहा गया है। हम स्वयं को जैसा असहाय सीमाबद्ध प्राणी समझते हैं, वैसे नहीं अपितु परम आनन्दमय के जन्म-मृत्यु-रहित महिमामय सन्तान हैं। पुराकाल के आचार्यों के समान ही वे भी दृष्टान्तों की भाषा में ही बोले। विषय सर्वदा एक ही रहता था – मनुष्य का सच्चा स्वरूप। हम वस्तुत: जो हैं, न कि जो हम प्रतीत होते हैं। हम लोग उस व्यक्ति के समान हैं, जो सोने की खान के ऊपर रहते हुए भी स्वयं को निर्धन ही समझा करता था। हम लोग उस सिंह के समान हैं, जो भेड़ों के बीच पैदा हुआ था और स्वयं को भेड़ ही समझता था। अपने स्वरूप से बेखबर होने के कारण भेड़िये के आने पर वह भय से मिमियाने लगता था। फिर एक दिन एक सिंह आया और उसे भेड़ों के साथ मिमियाता हुआ देखकर उसे पुकार कर बोला, "तुम भेड़ नहीं, सिंह हो। तुम्हें डरने की जरूरत नहीं।" उस सिंह को तत्काल अपने स्वरूप का बोध हो गया और वह भी जोरों से गर्जन करने लगा।

वे उस दिन यूनीटेरियन चर्च के मंच पर खड़े होकर जैसी आवाज में महान् सत्यों की घोषणा कर रहे थे, वैसी आवाज पहले कभी नहीं सुनी गयी थी, एक लयबद्ध आवाज जो कभी प्रत्येक भाव को व्यक्त करती थी – कभी पीड़ा की अभिव्यक्ति से हृदय के अब तक अज्ञात गहराइयों को आन्दोलित कर देती और जब पीड़ा असह्य होने लगती, तभी वह आवाज व्यक्ति को हास्य से लोटपोट कर डालती, और एक बीच में ही तीव्र उत्साह का एक वज्रघोष, जागरण का शंखनाद व्यक्ति को विस्मय-विभोर कर देता। वह अद्‌भुत आवाज सुनने के बाद व्यक्ति को लगता कि अब तक सच्चे संगीत का उसे बोध ही नहीं था।

उन्हें सुननेवाला हममें से भला कौन उन्हें कभी विस्मृत कर सकेगा ! जब हमने भारत का यह प्राचीन सन्देश सुना, तो हमारे मनों में आत्मा की कैसी स्मृतियाँ जाग उठी थीं –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्य-वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। (श्वेता. २/५; ३/८)

– 'हे अमृत के पुत्रो ! सुनो, हे दिव्य-धाम के निवासियो ! तुम लोग भी सुनो, मैंने उन अनादि पुरुष को जान लिया है, जिन्हें जानकर ही मृत्यु के चक्र से छूटना सम्भव है।'

या फिर सिंह तथा भेड़ की वह कहानी। वह अद्‌भुत सत्य ! अपने मिमियाने, अपनी कातरता, अपनी भीरुता के बावजूद तुम भेड़ नहीं हो; तुम सदा-सर्वदा से बलवान, निर्भय पशुराज सिंह ही रहे हो। भ्रान्ति पर विजय मात्र पाना है। तुम सदा से ही बलवान, निर्भय, पशुराज सिंह हो और पहले भी थे। विजय प्राप्त करनी है, तो केवल भय पर। **तत्त्वमसि** – अब तुम 'वही' हो। इन शब्दों के साथ एक सूक्ष्म शक्ति भी आती और जो व्यक्ति को उच्चतर, पवित्रतर चेतना के राज्य में पहुँचा देती। इसे सुनने तथा अनुभव करने के बाद क्या कभी अपने पुराने व्यक्तित्व से चिपके रह पाना सम्भव था? व्यक्ति के सारे आदर्श बदल जाते थे। आध्यात्मिकता का बीज बो दिया जाता था और वह वर्षों – तब तक विकसित होता रहता था, जब तक कि निश्चित रूप से फलप्रसू नहीं हो जाता था। यह सत्य है कि यह उदात्त शिक्षा अत्यन्त प्राचीन है। यह भी सत्य हो सकता है कि प्रत्येक हिन्दू नर-नारी इसे जानता है और उनमें से अनेक लोग इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त भी कर सकते होंगे, परन्तु स्वामीजी के शब्दों में अधिकार का बल था। उनके लिए यह कोई दार्शनिक मतवाद नहीं, अपितु एक जीवन्त सत्य था। एकमात्र यही सत्य था और बाकी सब कुछ मिथ्या हो सकता था। उन्होंने इसकी अनुभूति की थी। अपनी उस महान् अनुभूति के बाद उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था – प्राप्त सन्देश का प्रचार करना, लोगों का पथ-प्रदर्शन करना और उसी परम लक्ष्य की ओर अग्रसर अन्य लोगों की सहायता करना। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – "उठो, जागो, जब तक चरम लक्ष्य तक न पहुँचो, ठहरो मत।"

उस प्रथम अविस्मरणीय घण्टे के दौरान हमें कुछ-कुछ ऐसा ही बोध हुआ और हमारे मन उनकी अपनी बोधमयी चेतना में उन्नीत हो गये। बाद में, क्रमश: और कभी-कभी कष्टपूर्वक, काफी प्रयास तथा साधना के बाद, हममें से कुछ को पता चला कि हमारे मन-प्राण ही रूपान्तरित हो चुके हैं। अपार होती है गुरु की महिमा !

यूनीटेरियन चर्च में उनका पहला व्याख्यान सुनने आनेवाले उनका दूसरा और तीसरा व्याख्यान सुनने भी आये। और वे लोग अपने साथ दूसरों को भी यह कहकर लाये, "चलो, उस अद्‌भुत व्यक्ति की बातें सुनो। वे हमारे द्वारा पहले से सुने हुए किसी भी व्यक्ति के समान नहीं हैं।" और वे तब तक आते रहे, जब तक कि उनके बैठने के लिए जगह ही नहीं बची। वे लोग कमरे में भर गये, गलियारों में खड़े रहे, खिड़कियों से झाँकते रहे। स्वामीजी ने बारम्बार अपना सन्देश दिया; कभी एक रूप में, तो कभी अन्य रूप में; कभी उन्होंने रामायण तथा महाभारत की कहानियों के माध्यम से समझाया, तो कभी पुराणों तथा दन्तकथाओं के माध्यम से। उपनिषदों से तो वे निरन्तर ही उद्धरण देते रहते थे। पहले वे मूल पाठ की आवृत्ति करते और उसके बाद मुक्त काव्य में उसका अनुवाद करते। उनके कथित शब्दों का विलक्षण प्रभाव होता और श्लोकावृत्ति तो और भी अधिक प्रभावोत्पादक

होती। अज्ञात गहराइयाँ आलोड़ित हो उठतीं और जब उसका लय कानों में पड़ता, तो श्रोतागण सांस रोके मुग्ध बैठे रह जाते। मुझे लगता है कि जब हमने पहली बार उनकी उस अद्भुत आवाज में 'भारतवर्ष' शब्द सुना, तभी से हममें भारत के प्रति प्रेम का उदय हुआ। यह बड़ा ही विस्मयकर लगता है कि कैसे पाँच अक्षरों के इस छोटे-से शब्द में इतना कुछ समा सकता है। उसमें प्रेम था, आवेग था, गर्व था, आकुलता थी, श्रद्धा थी, विषाद था, वीरता थी, गृहविरह था और सर्वोपरि और भी प्रेम था। कितने भी ग्रन्थ दूसरों में ऐसे भाव उत्पन्न नहीं कर पाते। इसमें श्रोताओं के मन में प्रेम संचरित करने की जादुई शक्ति थी।

इसके बाद से सदा के लिए भारत हमारा मनोवांछित देश बन गया। उसके विषय में हर चीज – उसके लोग, उसका इतिहास, उसकी शिल्प-कला, उसकी प्रथाएँ, उसकी नदियाँ, पर्वत तथा मैदानी अंचल, उसकी संस्कृति, उसकी महान् आध्यात्मिक धारणाएँ, उसके शास्त्र – सब कुछ हमारे लिए रुचिकर और जीवन्त हो उठा। और इस प्रकार एक नया जीवन – अध्ययन का, ध्यान का जीवन आरम्भ हुआ। हमारी रुचि का केन्द्र बदल चुका था।

धर्म-महासभा के बाद स्वामीजी ने 'पॉन्ड्स-लेक्चर-ब्यूरो'[१] नामक कम्पनी की व्यवस्था में पूरे अमेरिका का दौरा करते हुए व्याख्यान देने का अनुबन्ध किया। प्रचलित प्रथा के अनुसार प्रत्येक नये स्थान की समिति को चयन हेतु व्याख्यान के कई विषय दे दिये जाते, यथा – "मनुष्य की दिव्यता", "भारत के रीति-रिवाज", "भारतीय नारियाँ", "हमारी विरासत" आदि। ... बिना किसी अपवाद के, जब कभी वह किसी भी बौद्धिक क्रिया-कलाप से कटा हुआ कोई खनन से जुड़ा नगर होता, तो वहाँ सबसे दुर्बोध्य विषय चुने जाते। उन्होंने ऐसे श्रोताओं के समक्ष बोलने की कठिनाई बताई, जिनके चेहरे पर समझ की कोई झलक ही नहीं दिखाई पड़ती थी। कुछ सप्ताहों तक इस प्रकार हर शाम व्याख्यान देने और हर रात यात्रा करने के बाद, यह कष्टकर बन्धन उनके लिए असह्य हो उठा। डिट्राएट में स्वामीजी के प्रति स्नेह तथा प्रशंसा का भाव रखनेवाले उनके ऐसे भी मित्र थे, जो उन्हें शिकागो के दिनों से ही जानते थे। उन्होंने इन लोगों से अनुरोध किया, "मुझे इनसे छुड़ाओ! मुझे इनसे छुड़ाओ!" वे लोग प्रभावशाली होने के कारण उन्हें उस अनुबन्ध से छुटकारा दिलाने में सफल हुए, तथापि इससे उन्हें अनुचित प्रतीत होनेवाली बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी।

उन्होंने आशा की थी कि इस प्रकार अर्जित धन के द्वारा वे भारत में अपना कार्य आरम्भ कर सकेंगे, परन्तु उनके लिए इस सार्वजनिक कार्य में उतरने का यह एकमात्र कारण न था। जो भाव उन्हें निरन्तर आगे की ओर प्रेरित कर रहा था और जो कभी उनके मानस-पटल से अदृश्य नहीं हुआ था, वह था – गुरुदेव द्वारा उन्हें सौंपा गया कार्यभार। उन्हें एक कार्य सम्पन्न करना था, एक सन्देश देना था। और यह एक पवित्र सन्देश था। इसे देने की पद्धति क्या होगी?

डिट्राएट पहुँचते-पहुँचते उनकी समझ में आ गया कि इस प्रकार दौरे करते हुए व्याख्यान देना वह पद्धति नहीं है। और जो कार्य उन्हें उनके उद्देश्य की ओर अग्रसर कराने वाला नहीं था, उसके लिए वे घण्टा भर भी बरबाद करने को तैयार नहीं थे। डिट्राएट में उन्होंने छह सप्ताह बिताये। उनका मन अपने लक्ष्य पर स्थिर था और बीच-बीच में वे व्याख्यान देते। हमने उनके व्याख्यान सुनने का कोई भी अवसर नहीं खोया। हमने बारम्बार 'आत्मा का वह अद्भुत सुसमाचार' सुना। हमने बारम्बार और विभिन्न दृष्टिकोणों से भारत की कथाएँ सुनीं। हम समझ गयी थीं कि हमें अपने आचार्य मिल गये हैं। गुरु शब्द से उस समय हम परिचित नहीं थीं और न हम उनसे व्यक्तिगत रूप से मिली ही थीं। परन्तु उससे क्या आता-जाता है! हमने जो कुछ सीखा था, उसी को तो पचाने में वर्षों लग जाते। और तब आचार्यदेव हमें पुनः किसी प्रकार कहीं-न-कहीं शिक्षा देंगे।

माँ की पुण्य-स्मृति

कुमुदबन्धु सेन

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

स्मरणीय है मेरे जीवन का वह दिन, जिस दिन मुझे पहली बार श्रीमाँ के चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला था। उस समय मैं स्कूल का छात्र था और १८९५ ई. के मध्य भाग में एंट्रेंस की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था।

उन दिनों मैं प्राय: स्वामी योगानन्द जी के पास जाया करता था, जो उत्तरी कोलकाता, बागबाजार के ५७, रामकान्त बोस स्ट्रीट में बलराम बसु के मकान में रहते थे। श्रीरामकृष्ण जब अपने शिष्यों और भक्तों से मिलने दक्षिणेश्वर से कोलकाता आते, तो जिस कमरे में वे ठहरते थे, उसी में स्वामी योगानन्द रहते थे। उसके पास के हॉल में बैठकर वे श्रीरामकृष्ण के भक्तों तथा अनुरागियों के साथ धर्मचर्चा करते। बीच-बीच में आलमबाजार मठ के संन्यासी भी आकर उसी हॉल में निवास करते। फिर वह हॉल बलराम बसु के पुत्र रामकृष्ण बसु के बैठकखाना के रूप में भी उपयोग में आता था। कहना न होगा कि रामकृष्ण बसु और उनके परिवार के सभी लोग श्रीरामकृष्ण और उनके संन्यासी शिष्यों के अनन्य भक्त थे। श्रीरामकृष्ण ने बलराम बसु को अपने एक रसददार के रूप में चिह्नित किया था। बलराम का धर्मानुराग, ईश्वर-भक्ति, प्रेम, दानशीलता, श्रीरामकृष्ण तथा उनके शिष्यों की सेवा में परम निष्ठा, उनका शुद्ध, उन्नत तथा आदर्श चरित्र आदि श्रीरामकृष्ण-वचनामृत तथा श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग के पाठकों को विदित ही है। बलराम बसु के प्रति श्रद्धा के कारण लोग उनके मकान को बलराम-मन्दिर कहा करते थे, क्योंकि वह श्रीरामकृष्ण, उनकी लीलासंगिनी माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाइयों तथा उनके शिष्यों व भक्तों के पादस्पर्श से पवित्र हुआ है।

स्वामी योगानन्द जी से मुझे ज्ञात हुआ कि माँ कोलकाता में आकर श्रीरामकृष्ण के किसी युवाभक्त शरत् सरकार के घर में ठहरी हैं। वह मकान बलराम-मन्दिर के पश्चिम की ओर की एक सँकरी गली में है। अगले दिन सुबह गंगास्नान करके, कुछ फूल, विशेषकर लाल कमल तथा मिठाइयाँ लेकर मैं वहाँ हाजिर हुआ। घर के दरवाजे पर शरत् सरकार खड़े थे। वे मुझे दोमंजले के एक बड़े कमरे में ले गये और बताया कि माँ पूजा कर रही हैं, इसलिए मुझे प्रतीक्षा करनी होगी। अपने किसी सम्बन्धी के द्वारा उन्होंने भीतर माँ के पास सूचना भी भिजवायी कि मैं दर्शन के लिए प्रतीक्षा कर रहा हूँ। पन्द्रह मिनटों के भीतर ही गोलाप-माँ आकर मुझे बुलाकर माँ का दर्शन कराने ले गयीं। जिस कमरे में मैं प्रतीक्षा कर रहा था, गोलाप-माँ उसी के उत्तर की ओर के कमरे की चौखट पर खड़ी थीं।

धुक्-धुक् करती छाती और भावविभोर हृदय के साथ मैं धीरे-धीरे उस कमरे की ओर अग्रसर हुआ। फिर मिठाई आदि गोलाप-माँ के हाथ में देकर (जिनका परिचय तब तक नहीं जानता था, बाद में शरत् महाराज से जाना) देखा, माँ उन्हीं के पास खड़ी हैं। शुभ्र वस्त्र से उनका पूरा शरीर ढँका था, पर श्रीचरण खुले थे। मैंने सारे फूल उन्हीं चरणों में डाल दिये और भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। चारों ओर पूर्ण नीरवता थी। मैं उनके लिए बिल्कुल अपरिचित था। माँ ने नि:शब्द ही मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। स्नेह तथा आशीर्वाद के उस दिव्य स्पर्श ने मुझे अभिभूत कर डाला। उनके सान्निध्य में मैंने जिस सिहरन का बोध किया, उस समय मैं बालक था, उस पवित्र प्रभाव के गहराई का आकलन नहीं कर सका, तो भी उस गम्भीर भावमय परिवेश ने मुझमें जिस विराट् महिमा का बोध संचरित कर दिया था, जिसका मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ। कोई बातचीत नहीं हुई, उन्होंने कुछ पूछा भी नहीं। कुछ मिनटों के बाद माँ चली गयीं। गोलाप-माँ ने कुछ फल तथा मिठाइयों का प्रसाद लाकर मुझे दिया। परम आनन्द से परिपूर्ण होकर मैं नीचे उतर आया। द्वार के पास स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी से भेंट हुई। उन्होंने हँसकर कहा – "अरे, तू तो बड़ा चालाक निकला। मैं यहाँ नहीं था, इसी अन्तराल में तू चुपचाप आकर माँ से मिल भी आया!"

यहाँ बता देना उचित होगा कि स्वामी त्रिगुणातीतानन्द उन दिनों श्रीमाँ की सेवा और उनका दर्शन करने श्रीरामकृष्ण के जो भक्तवृन्द आते, उनकी देखरेख करने के निमित्त इसी मकान में रहते थे। स्वामी योगानन्द भी माँ की सुविधा का विशेष ख्याल रखते थे। मेरा परम सौभाग्य था कि स्वामी

योगानन्द की कृपा से ही मुझे श्रीमाँ का पहली बार दर्शन करने का सुअवसर मिला था।

इसके बाद से मैं प्राय: हर दिन ही माँ के पास गया हूँ। गंगास्नान करके, फूल लिए माँ के दर्शनार्थ मैं शरत् सरकार के घर जाता। कोई एक माह वहाँ बिताकर माँ जयरामबाटी लौट गयीं। उन्होंने केवल मेरा नाम सुना था, पर कभी पूछा नहीं कि मैं कौन हूँ? फिर भी उनकी इतनी करुणा, ज्योहीं मैं जाता, त्योंही गोलाप-माँ या अन्य किसी संगिनी के साथ मुझे दर्शन दिया है। अपने चरणों में पुष्पांजलि देने की अनुमति भी मुझे दिया है। परन्तु कोई बात नहीं होती; या मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ – इस विषय में कोई प्रश्न भी नहीं करतीं। लोग जैसे देवी-प्रतिमा के चरणों में पुष्पांजलि देते हैं, वैसे ही मैंने उनके श्रीचरणों में पुष्प निवेदित किये हैं। वे सचमुच ही देवी-प्रतिमा थीं – मिट्टी, पत्थर या धातु की नहीं, बिल्कुल जीवन्त प्रतिमा – मानव-देह में आदर्श की प्रतिमूर्ति। दर्शन के समय अखण्ड नीरवता विराजती, परन्तु वह मूक या अचेतन नहीं, अपितु उच्चरित शब्दों की अपेक्षा काफी अधिक भावग्राही होती। वह महान्, उदात्त, पवित्र तथा अन्तर्भेदी नीरवता करुणा-किरण से आलोकित दिव्य-जननी के प्राणवन्त प्रेम के चिर गोमुख से नि:सृत प्राणमय रसधारा-सी लगती। माँ के साथ इन नीरव मुलाकातों के समय, एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ, जब नयी प्रेरणा, आशा और शान्ति से मुझे नवजीवन न मिला हो। मैं हर बार अपने अन्तर में अनुभव करता कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के सान्निध्य में हूँ, जो मेरे माता-पिता से भी बहुत बड़ी हैं।

मैं बलराम-मन्दिर और आलमबाजार मठ में प्राय: ही जाकर साधु लोगों से मिला करता। इससे कहीं मेरी पढ़ाई-लिखाई का नुकसान न हो – ऐसा सोचकर स्वामी त्रिगुणातीतानन्द मुझे प्राय: ही डाँटते। एक बार मुझे झिड़की देते हुए उन्होंने कहा था – "अरे, मन लगाकर पढ़ाई कर। तू क्या सोचता है कि ईश्वर-दर्शन करना बड़ी आसान बात हैं? जो पढ़ाई-लिखाई में मन नहीं लगा सकता, वह कभी पूजा-प्रार्थना तथा ध्यान-जप में भी मन नहीं लगा सकता। परीक्षा पास करने की अपेक्षा यह कहीं ज्यादा कठिन है। पहले पढ़ाई-लिखाई कर, ज्ञानार्जन कर और पवित्र जीवन-यापन कर, वही तुझे प्रार्थना और जप -ध्यान में सहायता करेगा।" मैंने चुपचाप श्रद्धापूर्वक उनके उपदेश सुने। मैं प्राय: रोज ही माँ से मिलने जाता था, इस कारण स्वामी त्रिगुणातीतानन्द मुझसे बड़े प्रसन्न थे। माँ पर अपना स्वयं का रचा हुआ, एक संस्कृत स्तोत्र भी उन्होंने मुझे दिया था। वह 'दुर्गा-सप्तशती' की शैली में लिखा हुआ था। उन्होंने सुबह उठकर उसका पाठ करने को कहा था। स्तोत्र काफी लम्बा था। दुर्भाग्यवश मेरे एक पड़ोसी ने मुझसे लेकर उसे कहीं खो दिया।

श्रीरामकृष्ण के एक गृही शिष्य मणीन्द्र कृष्ण गुप्त मेरे पड़ोसी और घनिष्ठ मित्र थे। वे बंगाल के प्रसिद्ध कवि ईश्वर चन्द्र गुप्त के पौत्र और स्वयं भी साहित्यकार थे। ईश्वर गुप्त जो बँगला 'दैनिक' निकालते थे, बाद में वह मणीन्द्र की व्यवस्था तथा सम्पादन में निकलता था। १८९७ ई. में, जब स्वामी विवेकानन्द पश्चिम से लौटे, उन दिनों मणीन्द्र भीषण आर्थिक संकट से ग्रस्त थे। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों से यह बात सुनी थी। एक दिन स्वामीजी ने मणीन्द्र को बुलाकर गुप्त रूप से उन्हें उपहार-स्वरूप एक हजार रुपये दिये थे। मठ के साधु और अन्य भक्तगण बीच-बीच में मणीन्द्र के घर आते। वे लोग उन्हें गुरुभाई ही मानते और खोका या मणि कहकर बुलाते। एक दिन बातचीत के दौरान श्रीमाँ ने मुझसे कहा था – "मणीन्द्र खूब बचपन में ही ठाकुर के पास आया था। उनकी बीमारी के समय मणीन्द्र और उसका समवयस्क एक और बालक होली के दिन उन्हें पँखा झेल रहे थे। ठाकुर बार-बार उन्हें होली खेलने जाने को कहते रहे, पर वे नहीं गये, पँखा ही झलते रहे। तब ठाकुर ने सजल नेत्रों से कहा था – "अहा! मेरा रामलला इन्हीं बालकों के रूप में ही मेरी सेवा कर रहा है। ये लोग ही मेरे रामलला हैं।"

एक दिन त्रिगुणातीतानन्द जी ने हम लोगों के सामने ही स्वामी विवेकानन्द का एक पत्र पढ़कर श्रीमाँ को सुनाया था। उन्होंने मठ के गुरुभाइयों को सम्बोधित करके उस पत्र के द्वारा यह जानना चाहा था कि माँ का खर्च आदि किस प्रकार चल रहा है। उन्होंने लिखा था कि मठ के सभी लोग उस पत्र को पढ़ें; श्रीमाँ, गोलाप-माँ एवं योगीन-माँ को भी उसे सुनाया जाय। उस पत्र में स्वामीजी ने व्याकुल होकर अपने गुरुभाइयों का आह्वान किया था कि ठाकुर के सन्देश-प्रचार तथा लोकहित के लिए वे लोग अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि जीवन भी उत्सर्ग करें। यह बात सुनकर सभी स्तब्ध रह गये, ठाकुर के उच्च भाव को स्वामीजी ने जैसे प्रस्तुत किया था, उसने सभी को हिलाकर रख दिया। कुछ देर बाद गोलाप-माँ ने स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को सम्बोधित करते हुए कहा – "सारदा! (उनका संन्यास-पूर्व नाम) माँ ने कहा है, नरेन ठाकुर का यंत्र है, इसीलिए उन्होंने उससे यह सब लिखवाया है, ताकि उनके लड़के और भक्त उनका काम कर सकें, जगत् का कल्याण कर सकें। नरेन ने जो लिखा है सब ठीक है, समय आने पर निश्चय ही सफल होगा।" माँ की बात सुनकर सबके आनन्द की सीमा न रही। जो बात वे लोग अपने हृदय में अनुभव करके भी व्यक्त नहीं कर पा रहे थे, माँ ने उसे स्पष्ट रूप से कह दिया। सचमुच वह एक शुभ क्षण था। सन्तुष्ट हृदय के साथ हम लोग घर लौटे। उस समय हृदय में थी स्वामीजी के प्रति गहन श्रद्धा-भक्ति और कानों में ध्वनित हो रही थीं, माँ की वे समयोपयोगी बातें।

शरत् सरकार के मकान में माँ के निवास के बारे में उनके मित्रों ने कहा था – "शरत्, लोग तीन दिन दुर्गापूजा करते हैं और तुम महीने भर दुर्गापूजा कर रहे हो। लोग मिट्टी की मूर्ति में पूजा करते हैं और तुमने जीवन्त दुर्गा की पूजा की।"

माँ ने जयरामबाटी में प्रति वर्ष के समान १८९५ ई. के नवम्बर में जगद्धात्री पूजा की। किसी कारणवश उस बार मैं जयरामबाटी न जा सका। लेकिन मेरे मित्रों ने लौटकर वहाँ का हू-ब-हू वृत्तान्त मुझे सुनाया था। कैसा अद्भुत था वहाँ का परिवेश! माँ ने अपने पुत्रों की भाँति उन्हें कितना स्नेह दिया था। उनके आनन्द की सीमा न थी। प्रत्येक ने एक ही बात कही – "अपने घर में भी ऐसा मातृस्नेह नहीं मिला।"

इसी टोली के एक प्रौढ़ सज्जन जयरामबाटी से लौटकर दो-तीन दिन मणीन्द्र के घर ठहरे। वे पहले से ही उपयुक्त गुरु की खोज में थे। दैनन्दिन कार्य उनके लिये असह्य हो उठा था। वे हमेशा सोचा करते कि आध्यात्मिक जीवन में कैसे अग्रसर हों। एक रात स्वप्न में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की ज्योतिर्मय मूर्ति देखी – उन्होंने अपने ही समान एक ज्योतिर्मय मूर्ति को दिखाकर उन्हें जयरामबाटी जाने को कहा। वे सज्जन जयरामबाटी पहुँचे। वहाँ माँ का दर्शन किया। माँ ने उन्हें अत्यन्त स्नेह से ग्रहण किया और जगद्धात्री-पूजा के दिन ही दीक्षा दी। उन्होंने मुझे बताया था कि माँ का दर्शन करके वे अवाक् रह गये। क्या ही आश्चर्य! स्वप्न में जिन्हें देखा था, यह तो वही देवीमूर्ति है। इस प्रसंग में मणीन्द्र ने बताया था कि बीमारी के समय उन्होंने ठाकुर को कहते हुए सुना था – "लोगों के कल्याणार्थ आधा काम मैंने किया है, बाकी वह (अर्थात् उनकी लीला-संगिनी श्रीमाँ) करेगी।"

– "तुम किसके लड़के हो?"

– "मैं तुम्हारा ही पुत्र हूँ माँ।"

मैंने पहली बार माँ की आवाज सुनी। उन्होंने मुझसे बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में यह पूछा था। मेरे उत्तर से मानो वे तृप्त हुई थीं। यह घटना उत्तर कलकत्ता के बागबाजार इलाके के एक मकान में (निचली मंजिल में हल्दी का गोदाम होने के कारण वह 'गोदाम-घर' कहलाता था) हुई थी। वह एक तिमंजला मकान था, जिसकी पहली मंजिल में गोदाम था और दूसरी तथा तीसरी मंजिल को रहने के लिए किराये पर दिया जाता था। दूसरी मंजिल के पूर्वी हिस्से में दो कमरे थे, बीच में थोड़ी खुली जगह थी, जिसके पूर्वी हिस्से से एक छोटी सीढ़ी तीसरी मंजिल तक गयी थी। वहीं पर गोलाप-माँ के साथ श्रीमाँ रहतीं। गोपाल की माँ और अन्य भक्त-स्त्रियाँ भी वहाँ दो-एक दिन ठहरा करतीं। वहाँ तीन कमरे थे, सामने दक्षिण की ओर चौड़ा घिरा हुआ बरामदा और पश्चिम की ओर बड़ी-सी खुली छत थी। माँ वहाँ खड़ी होकर गंगा-दर्शन करतीं। खूब बचपन से ही माँ का गंगा के प्रति विशेष भक्ति-प्रेम था।

मेरा उत्तर सुनकर पास ही खड़ीं गोपाल की माँ श्रीमाँ से बोलीं – "बहू, मेरा गोपाल तेरे पास अद्भुत बच्चे लायेगा। मेरे गोपाल के आकर्षण से सब आ जायेंगे।" अपरिचित के सामने माँ घूँघट काढ़े रहतीं, पर उस समय घूँघट नहीं था। वे सामने खड़ी थीं। उस दर्शन से मेरे प्राणों में मानो आनन्द की बाढ़ आ गयी। कैसा दिव्य रूप! करुणा तथा दिव्य आलोक से आलोकित, मातृत्व से महिमान्वित शान्त मुख-मण्डल! हृदय आशा-विश्वास से परिपूर्ण हो उठा, अनुभव हुआ कि मुझे परम आश्रय मिला है। उनके श्रीचरणों में पुष्पांजलि दी। माँ ने पूछा कि मेरा घर कहाँ है? मेरे माता-पिता जीवित हैं या नहीं? मैंने कहा – "नहीं माँ, कोई नहीं है? एक वर्ष के अन्दर ही मैं दोनों को खो चुका हूँ।" माँ ने सहानुभूति के स्वर में कहा – "अहा! कैसे दुख की बात है। पर बेटा, उसके लिए चिन्ता मत करो। जागतिक बन्धन तो क्षण भर के लिए हैं। आज जो सर्वस्व प्रतीत होते हैं, कल नहीं रहते। तुम्हारा सच्चा बन्धन ईश्वर के साथ, ठाकुर के साथ है। यहाँ नियमित रूप से आना, प्रसाद पाना।" मैं गम्भीर भावावेग से डबडबाये नेत्रों के साथ बोला – "माँ, मैंने तुम्हें पाया है, तुम्हीं मेरी जगदम्बा हो, मेरी सचमुच की माँ हो, यही मेरे लिए दिलाशा की बात है। तुम मुझ पर करुणा करो, आशीर्वाद करो।" माँ ने कहा – "बेटा, ठाकुर ने इसी बीच तुम पर आशीर्वाद किया है। स्कूल में छुट्टी रहे, तो यहाँ आकर रहना। इस समय प्रसाद लेकर योगीन, राखाल के पास जाओ। उनका पवित्र संग तुम्हारे मन को उन्नत कर देगा, मन की सारी दुख-पीड़ा मिट जायेगी।" माँ ने अपने हाथों से मुझे फल-मिठाई दिया, मैं नीचे उतर आया।

मास्टर महाशय प्रति शनिवार की शाम को वहाँ जाते। वे रविवार की शाम और कभी-कभी सोमवार की सुबह तक वहीं रहते। मैं भी रात में प्रायः मास्टर महाशय के साथ ही रहता। वे हम लोगों को ठाकुर और माँ के बारे में बहुत-सी प्रेरक बातें सुनाते। सभी भक्त यहीं माँ का दर्शन करने आते। उनमें कोई-कोई माँ से दीक्षा भी पाते। मैंने सुना – एक दिन वे एक शिष्य से बोलीं थीं, "कई बार चंचल मन के लोग दीक्षा के लिए आ जाते हैं। मैं उनका मुख तथा भाव-भंगिमा देखते ही उनके पूर्व-जीवन के बारे में जान जाती हूँ। पूछती हूँ, उन्होंने पहले किसी अन्य से दीक्षा ली है कि नहीं? 'हाँ' कहने पर उनसे कहती हूँ – 'बड़े आश्चर्य की बात है, तुम फिर से दीक्षा लेने आये हो। तुम्हारे गुरु ने तुम्हें जो मंत्र दिया है, उस पर तुम्हारा जरा भी विश्वास नहीं! मंत्र भगवान के पवित्र नाम के सिवा और है क्या? तो भी तुम दीक्षा के लिए क्यों आये हो?' इस पर वे लोग क्षमा माँगते हैं, पर रोते-रोते मंत्र के लिए आग्रह करते हैं। मुझसे किसी का भी रोना सहन नहीं होता। ठाकुर से कहती हूँ, इनका विश्वास दृढ़ करो। उसके बाद ठाकुर के

निर्देश से नया मंत्र देती हूँ। ईश्वर के प्रति उनका भक्ति-विश्वास बढ़ाने के लिये यह दूसरा मंत्र देती हूँ।'' यह सुनकर शिष्य बोले – ''तुम्हारी कृपा और आशीर्वाद से वे बच गये।'' माँ तत्काल बोलीं –''नहीं नहीं, मैं कोई नहीं। ठाकुर ने ही उन्हें आशीर्वाद दिया है। मैं तो उनकी यंत्रमात्र हूँ।''

एक दिन शाम को मैं माँ का दर्शन करने गया। पर माँ के पास जाने के पूर्व, ठाकुर के गृही-भक्त देवेन्द्रनाथ मजूमदार के साथ स्वामी योगानन्द की मनोहारी बातें सुनने बैठ गया। योगानन्द जी कह रहे थे – ''ठाकुर ज्ञानमूर्ति हैं। वे प्राय: ही हम लोगों को बताया करते थे, उन्हें सारा ज्ञान माँ-काली से ही मिला है। ठाकुर के उपदेश और उनकी कथा-कहानियाँ – सब उनकी तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति, गहन चिन्तन-शक्ति और सूक्ष्म क्षमता के द्योतक हैं। ये सभी हमारे मन में नवालोक फैलाते है, सारे सन्देह दूर करके समस्या का समाधान कर देते हैं। उस समय उन्हें नहीं समझ पाया। अब जितने दिन बीत रहे हैं, उतने ही स्पष्ट रूप से समझ रहा हूँ कि उस नर-देह-मन्दिर में किस अनन्त ज्ञान तथा असीम प्रेम ने आश्रय लिया था। उनकी साधारण बातें तथा कार्य भी कितनी अर्थ-व्यंजक हैं, यह समझ गया हूँ। जैसा कि वैष्णव लोग कहते हैं कि श्रीचैतन्य ने गहन समाधि या ईश्वर-उन्मत्तता में जो कुछ किया, वे सब दिव्य लीलायें हैं। ठाकुर के बारे में भी यही सत्य है, अपने अनुभव से समझा है। ठाकुर बचपन से ही ईश्वर-प्रेम में उन्मत्त थे। उनकी प्रज्ञा, चरित्र और असाधारण व्यक्तित्व से समाज के सभी स्तरों के लोग आकृष्ट हुए हैं, उच्चतम से निम्नतम तक, सभी तरह के लोग उनके पास भागे चले आते। पापी हो या पुण्यवान, किसी की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। साधारण मनुष्य उनके अपूर्व जीवन, अम्लान पवित्रता, असीम प्रेम, अभूतपूर्व तपस्या, सर्वांगीण अध्यात्मिक उपलब्धि और गम्भीर उपदेशों के पूर्ण तात्पर्य को समझने में समर्थ नहीं है। उनका जीवन मानो पहले के सभी ऋषियों तथा अवतारों की अनुभूतियों और शास्त्रों में निबद्ध आध्यात्मिक सत्यों का प्रदर्शन-कक्ष है। वे अपने उच्च आदर्श के प्रचार हेतु सप्तर्षि-मण्डल से विशेष रूप से नरेन को ले आए थे, ताकि सर्व-साधारण का कल्याण हो, मानव समाज की उन्नति हो।''

देवेन मजूमदार भी श्रीरामकृष्ण के बारे में, विशेष रूप से उनके प्रेम-करुणा के बारे में बोले। उन्होंने जब संसार-त्याग का निर्णय लिया, तो ठाकुर ने उनकी शोकार्त वृद्धा माता की याद दिलाते हुए कहा – ''देखो, तुम्हारे भाई सुरेन्द्र की मृत्यु हो गयी है, अब जगदम्बा-भाव से अपनी माँ की सेवा करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। सांसारिक दुख-कष्टों से वैराग्य आने पर वह अधिक दिन नहीं टिकता। घर में रहकर माँ की सेवा करो। वही तुम्हारा आदि कर्तव्य और धर्म है। पूरे हृदय से ऐसा करने पर तुम आध्यात्मिकता के पथ पर आगे बढ़ सकोगे।''

मैंने पूरी तन्मयता से ये सब बातें सुनीं। अधिक रात होने पर देवेन्द्रनाथ मजूमदार चले गये। तब मुझे ख्याल आया माँ का दर्शन तो हुआ ही नहीं। जबकि विशेष रूप से मैं उसी के लिए आया हूँ। मैंने योगानन्द जी से यह बात कही। उन्होंने गोलाप-माँ को पुकारकर यह बात माँ को सूचित करने को कहा। गोलाप-माँ ने उत्तर दिया – ''माँ सो गयी हैं।'' मुझे हताश और दुखी देखकर योगानन्द जी ने कहा – ''अब कुछ नहीं हो सकता। माँ सो गयी हैं। कल आना।'' उनकी बात ज्योंही खत्म हुई त्योंही गोलाप-माँ मुझे बुलाकर बोली – ''माँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं। अभी आओ।'' मेरा हृदय खिल उठा। उसी समय मुझे ऊपर जाकर माँ के चरण-स्पर्श करने का सौभाग्य मिला। माँ ने पूछा – ''इतनी देर क्यों की?'' मैंने कहा – ''माँ, मैं इतनी तन्मयता से योगीन महाराज और देवेन मजूमदार की बातें सुन रहा था कि समय का ख्याल ही नहीं रहा।'' माँ हँसने लगीं। फिर बोलीं – ''ठीक तो है। ठाकुर की दिव्य लीलाओं में मग्न थे, इसलिए तो माँ को भूल गये थे।'' कोई सटीक उत्तर न सूझने के कारण मैं चुप रहा। माँ ने स्नेहपूर्वक कहा – ''बेटा, अब घर जाओ। बहुत रात हो गयी है।''

मैं आनन्द से परिपूर्ण होकर नीचे उतरा और साधु लोगों से विदा लेकर घर लौटा। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि माँ का कितना प्रगाढ़ स्नेह और दया मुझ पर है। केवल मुझे दर्शन देने के लिए ही रात में शय्या से उठकर चली आईं।

यहाँ बताना जरूरी है कि इन दिनों परिचित भक्तों द्वारा भेजे गये बाहर के लोग स्वच्छन्द रूप से माँ का दर्शन कर पाते थे। पहले इस विषय में जो कड़े नियम थे, उन्हें काफी कुछ ढीला कर दिया गया था। नाग महाशय इसी भवन (गोदाम-घर) में माँ के दर्शनार्थ आये थे और उन्हें शाल के पत्ते में प्रसाद दिया गया था। प्रसाद खाने के बाद, प्रसाद-ज्ञान से वे उसे भी खा गये। उनकी भक्ति देख सभी अवाक् रह गये। प्रसाद के प्रति उनकी कैसी भक्ति कि जिस पत्ते में प्रसाद दिया गया, वह भी उनके लिए पवित्र और प्रसाद का अंश ही हो गया। माँ ने नाग महाशय का यह कार्य देखकर स्नेहपूर्वक कहा था – ''ठाकुर के पास बहुत भक्त आये, पर दुर्गाचरण के जैसा भक्त मिलना कठिन है।'' उस दिव्य दृश्य को देखने का सौभाग्य मुझे मिला था, जब नाग महाशय ने भावावेश में थर-थर काँपते हुए रूँधे हुए गले से कहा था – ''कृपामयी माँ की कृपा का अन्त नहीं, कृपा का अन्त नहीं।''

इसी भवन में लक्ष्मी-पूजा के दिन स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने मुझे दीक्षा दी। माँ ने उस दिन मुझे बहुत आशीर्वाद दिया था, जिससे मुझमें एक नये प्राण का संचार हुआ था।

एक दिन मैंने माँ से कहा – ''ध्यान के समय मैं मन को ठीक से लगा नहीं पाता। मेरा मन बड़ा चंचल है।'' माँ ने

हँसकर कहा – "वह सब कुछ नहीं है। मन का स्वभाव ही ऐसा है, आँख और कान की तरह। नियमित रूप से ध्यान-जप करते जाओ। भगवान के नाम का आकर्षण इन्द्रियों के आकर्षण की अपेक्षा काफी शक्तिशाली है। नियमित अभ्यास करने से समय पर सब ठीक हो जायेगा। सर्वदा ठाकुर की बातें सोचना, वे तुम्हें हमेशा देख रहे हैं। अपनी त्रुटियों के बारे में जरा भी चिन्ता मत करना।" मैंने कहा – "माँ, आशीर्वाद दो कि मैं नियमित रूप से अभ्यास कर सकूँ।" माँ ने सौम्य मुस्कान के साथ कहा – "अपनी बातें, क्रिया-कलाप और अभ्यास ठीक रखना, तब अनुभव करोगे कि तुम कितने धन्य हो। ठाकुर का आशीर्वाद जीव पर हमेशा बरस रहा है, उसे माँगने की जरूरत नहीं पड़ती। व्याकुल होकर ध्यान-जप करो, तो उनकी असीम कृपा समझोगे। भगवान अनन्यता, सत्यवादिता तथा प्रेम के भूखे हैं। बाह्य भावोच्छ्वास उनके पास नहीं पहुँचाते। नियमित रूप से निर्दिष्ट समय पर नाम-जप करना। यदि अन्य सभी विचारों को हटाकर हृदय की परम आकुलता के साथ तुम प्रभु को पुकार सको, तो वे उतर देंगे ही। वे करुणामय हैं, तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण करेंगे।"

एक बार माँ की इच्छा से आलमबाजार मठ के संन्यासी-गण माँ के घर प्रसाद पाने आये। मुझे भी उनके साथ एक ही कमरे में बैठकर प्रसाद पाने का सौभाग्य मिला था। पर स्वामी रामकृष्णानन्द मठ के मन्दिर की पूजा में व्यस्त रहने के कारण न आ सके। उनकी अनुपस्थिति को सभी ने विशेष रूप से अनुभव किया। स्वामी निरंजनानन्द के हाथों माँ ने उनके लिए प्रसाद भिजवाया। माँ की इच्छा और गोलाप-माँ की देखरेख में सबने परम तृप्तिपूर्वक विविध प्रकार के व्यंजन ग्रहण किये।

❖ (क्रमशः) ❖

गीता का जीवन-दर्शन – ५

दैवी सम्पदाएँ – (२) चित्तशुद्धि

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में उन्हीं गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

(उत्तरार्ध)

ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि के द्वारा ही मानस-रोगों का उपचार सम्भव है। रोगों से मुक्त मन ही शुद्ध है। मन:शुद्धि के कुछ उपाय निम्नांकित हैं –

(१) आहार-शुद्धि

सत्त्वशुद्धि के लिए आहार-शुद्धि ही पहली आवश्यकता है। सादा, सात्त्विक तथा सन्तुलित भोजन मन को पवित्र बनाता है। राजस एवं तामस वस्तुओं के सेवन से वह उत्तेजित होता है। जीवन-यात्रा के लिए जितना जरूरी हो, आहार उतना ही ग्रहण किया जाना चाहिए। उससे अधिक ग्रहण करने पर अजीर्ण होगा और इसके फलस्वरूप जो अन्न अमृत-सदृश है, वह विषतुल्य हो जाता है – **अजीर्णे भोजनं विषम्**। आवश्यकता से अधिक भोजन प्रमाद, आलस्य और रोगों को जन्म देता है। मादक पदार्थों का सेवन स्वभाव में विकृति पैदा कर आसुरी भावों की वृद्धि करता है, जिससे व्यक्ति के पतन का मार्ग सुनिश्चित हो जाता है। गीता में सात्त्विक, राजस और तामस – तीन प्रकार के आहारों का प्रतिपादन किया गया है। (१७/७-१०)

आहार शुद्ध होने पर सत्त्व की शुद्धि होती है और तब स्मृति का स्तम्भन होता है। उसके बाद मन की सारी गाँठें खुल जाती हैं। कुण्ठाएँ उदात्तीकृत और संशय उच्छिन्न हो जाते हैं – **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति। स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः** (छान्दोग्योपनिषद् ७/२६/२१)।

महाभारत में भीष्म के उदाहरण से ज्ञात होता है कि **जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन** की लोकोक्ति यथार्थ है। मृत्यु-शय्या पर पड़े भीष्म से द्रौपदी पूछती हैं – "महाराज दुर्योधन की सभा में जब मुझे निर्वस्त्र किया जा रहा था, तब आप मौन क्यों थे? तटस्थता क्यों धारण की थी?" भीष्म बोले – "पुत्री, तब मैं कौरवों का पापमय अन्न खा रहा था, जिससे मेरी बुद्धि नष्ट हो गई थी।" पाप से अर्जित अन्न अशुद्ध होता है। धर्मार्जित अन्न ही मन-बुद्धि को पुनीत रख सकता है।

'आहार' का अर्थ केवल स्थूल 'भोजन' ही नहीं, अपितु श्री शंकराचार्य के अनुसार शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि वह सब है, जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। अत: इन्द्रियग्राह्य सभी विषयों का सात्त्विक होना जरूरी है। वर्तमान सिने-संस्कृति के वातावरण में रोमांसयुक्त संगीत, उत्तेजक साहित्य और चित्रपट के अर्धनग्न चित्र जो सुनने-पढ़ने तथा देखने को मिलते हैं, उनमें आहार की सात्त्विकता कहाँ रह जाती है? इसीलिए हमारे चित्त में पवित्रता भी नहीं रही और फलरूप वैयक्तिक तथा सामाजिक शान्ति का भी अभाव है।

(२) विचार-शुद्धि

विचारों की शुद्धता मानसिक शुद्धता का द्वितीयक आधार है। विचार व्यक्ति के चरित्र का मापदण्ड हैं। जिस व्यक्ति के जैसे विचार होंगे, वह व्यक्ति भी वैसा ही होगा –

विचारा हि मनुष्याणां प्रतिमानाः परन्तप ।
विचारो यादृशो यस्य मर्त्यो भवति तादृशः ।।

किसी किरायेदार से उसकी आय के बारे में पूछने की अपेक्षा उसके दर्शन के विषय में जानना अधिक आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति का व्यवहार उसकी विचारदृष्टि से नियंत्रित होता है, जो मकान-मालिक और किरायेदार के बीच मानवीय रिश्तों को कायम करने में सहायक है। उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य मन में जो सोचता है, वाणी से उसे ही प्रकट करता है। वाणी से जो बोलता है, वही कर्म में उतारता है। इसलिए प्रथमतः मन की सोच ही ठीक होनी चाहिए।

विचार-शुद्धता विचारों के संयम से आती है। विचार-संयम का अर्थ यह नहीं है कि मन विचार-शून्य हो या मन में विचार ही न आयें, अपितु इसका अभिप्राय है कि कुत्सित, अनावश्यक, उद्वेगकारी तथा बुरे विचार मन में न उठें। भगवान बुद्ध ने कहा था – "भिक्खुओ ! स्मरण रखो, गलत विचारों पर विजयी बनने का एकमात्र रास्ता यह है कि हम बीच-बीच में मन के विभिन्न पहलुओं का अवलोकन करते रहें, जो शुभ है उन पर मनन करें, जो अशुभ है उनको जड़ से निकाल दें और शुभ का सर्जन करें।"

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "हम अभी जो कुछ हैं, वह सब हमारे चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो। शब्द तो गौण वस्तु हैं। चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहुदूर-व्यापी है। हम जो कुछ भी चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है। इस कारण साधु-पुरुषों की हँसी और गाली में भी उनके हृदय का प्रेम और पवित्रता रहती है और उससे हमारा कल्याण ही होता है।'

(३) शिव-संकल्प

मन की यह दुर्बलता है कि उसमें बुरे विचार पहले और अच्छे विचार बाद में आते हैं। यह गलत निर्णय पहले लेता है और सही निर्णय बाद में। वैदिक ऋषि इस बात को ठीक-ठीक जानते थे, इसीलिए उन्होंने प्रार्थना की थी – हे प्रभो, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला बने – **तं मे मनः शिव-संकल्पम् अस्तु**। संकल्प हमारी इच्छाशक्ति का प्रतीक है। उसमें हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व आभासित होता है। उसे ऐसा होना चाहिए कि उसमें उदारता, सार्वजनीनता, शिवता, सत्यता, सुन्दरता तथा निर्हेतुक सर्वमांगल्य की भावनाएँ निहित हों। संकल्प ही कामनाओं का मूल है – **संकल्प मूलः कामो वै**। अतएव उसे शिव या कल्याणकर होना आवश्यक है। यदि वह शिव है, तो बुरी कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं होंगी और मन ऊर्मिरहित शान्त तथा शुद्ध बना रहेगा।

(४) वासनाओं का संस्करण

मनुष्य कामनाओं का दास है। विषयानन्द का आकर्षण उसे कामनाओं से अलग नहीं होने देता। मूल प्रवृतियाँ उसे पाशविक धरातल पर ले जाती हैं। उनका शोधन, मार्गान्तरण तथा उदात्तीकरण ही उसे पाशविक स्तर से ऊपर उठाता है। असत्, उच्छृंखल तथा दमित इच्छाएँ कुण्ठा का रूप धारण करती हैं और चित्त के तलघर में जाकर बैठ जाती हैं। इससे समूचा तलघर गन्दा हो जाता है। उसकी दुर्गन्ध तलघर के ऊपरी हिस्से – चेतन मन में भी फैल जाती है। जब तक यह तलघर साफ नहीं होता, तब तक चेतन मन भी शुद्ध नहीं होगा और अतिचेतन (समाधि) के स्तर तक पहुँचा भी नहीं जा सकेगा। कामनाओं से वासित अचेतन मन समाधि के मार्ग की बड़ी बाधा है। कामनाओं को संस्कारित करके ही उनके दुष्फल से छुटकारा पाया जा सकता है। इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। इनकी दिशा में परिवर्तन करना होगा, इन्हें विषयों की ओर से हटाकर प्रभु की ओर मोड़ना होगा। इससे कामनाओं का संस्कार होगा, मन के तलघर की सफाई हो जायेगी और तभी मन को अतिचेतन की झलक मिलेगी।

(५) सत्संग : अन्तर्यात्रा का आरम्भबिन्दु

मन की अन्तर्यात्रा का आरम्भबिन्दु सत्संग है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता – **बिनु सतसंग विवेक न होई।** बिना विवेक के मोह का विनाश नहीं होता – **तेहि बिनु मोह न भाग**। और मोह सभी व्याधियों का मूल है, जिससे अनेक पीड़ाओं की उत्पत्ति होती है – **मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला, तिन्हतें पुनि उपजहिं बहु सूला** ('मानस')। काम-क्रोध आदि मोह से पैदा होते हैं और मोह मन की तामस वृत्ति से जन्मा है। अतः सत्त्वोद्रेक के लिए सत्संगति आवश्यक है और मानसिक पर्यावरण की शुद्धता का प्रथम उपाय है।

(६) अहंकार-त्याग और समत्वभाव

अहंकार से वशीभूत व्यक्ति दूसरों के अस्तित्व को, गरिमा को और अच्छाइयों को स्वीकार नहीं करता। वह स्वयं को कर्ता और भोक्ता मानता है। शुभ कार्यों का श्रेय स्वयं लेना चाहता है। अपने सम्मान के प्रति बड़ा सजग रहता है। झूठा सम्मान पाकर प्रसन्न रहता है। अप्रत्यक्ष रूप से भी यदि उसके अहं को यत्किंचित् आघात लगता है, तो वह व्यथित, क्रुद्ध और प्रतिक्रियावादी बन जाता है। उसके चित्त में विक्षोभ होता है, अशान्ति का बोध होता है। मन की शुद्धता के लिए अहंकार को त्यागना आवश्यक है।

जिसके मन में समत्व भाव है, जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है। ब्राह्मण, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल में वैसे ही आत्मभाव का दर्शन करता है, जैसे अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में अपनेपन की अनुभूति करता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनका मन समत्व भाव में लगा हुआ है, उनके द्वारा इसी जीवन में संसार जीत लिया गया है और वे परमात्मा में ही स्थित हैं। ईश्वर समस्त प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। उन्हें न कोई प्रिय और न अप्रिय है। वही भक्त उन्हें प्राप्त कर सकता है, जिसकी सभी भूतों में समदृष्टि है और उसी का अन्त:करण भी शुद्ध है।

(७) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तशुद्धि

चित्त चंचल है। उसके निग्रह के बिना अन्त:करण शुद्ध नहीं हो सकता, परन्तु उसका निग्रह किया कैसे जाय? अर्जुन के पूछने पर योगिराज श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया – "हे महाबाहो अर्जुन ! नि:सन्देह मन बड़ा चंचल है और कठिनता से वश में आनेवाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निरोध सम्भव है।" (गीता ६/२५) महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्रों में (१/१२) कहा है – **अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोध:**। किसी चित्तभूमि में एक ही वृत्ति की बार-बार आवृत्ति करना अभ्यास है – **अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित् समान-प्रत्ययावृत्ति: चित्तस्य** (शांकर भाष्य)। मन की वृत्तियों को पूर्णतया वश में करने के लिए जो सतत प्रयत्न है, उसे अभ्यास कहते हैं – **तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास:**। (१/१३) वह दीर्घकाल की सतत चेष्टा से दृढ़-भूमि हो जाता है – **स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमि:**। (१/१४) योगवाशिष्ठ (८१/२२-२४) कहता है – मन को किसी लक्ष्य में तदाकार करने हेतु अन्य विषयों से खींचकर बार-बार उस विषय में लगाने के लिये किये जानेवाले अभ्यास से अज्ञानी भी धीरे-धीरे ज्ञानी हो जाता है और पर्वत चूर्ण बन जाता है। मिथ्या ज्ञान की बढ़ी हुई महामारी विचार के अभ्यास से चली जाती है। नित्य अभ्यास करने पर कड़ुवा नीम भी मधुर लगने लगता है –

' अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनै: शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ।।
इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ।।
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
यथास्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ।।

आचार्य शंकर कहते हैं – इस लोक तथा परलोक के, दृष्ट तथा अदृष्ट, अभिप्रेत भोग-विषयों की अनित्यता के ज्ञान से उत्पन्न वितृष्णा को वैराग्य कहते हैं – **वैराग्यं नाम दृष्ट-अदृष्ट-इष्ट-भोगेषु दोष-दर्शनाभ्यासाद् वैतृष्ण्यम्**। वैराग्य दो प्रकार का है – ज्ञानजन्य और वितृष्णाजन्य। भोगों की अनित्यता और उनके विषमय परिणाम को जानकर उनसे जो अरुचि उत्पन्न होती है, वही सच्चा वैराग्य है। घृणा से पैदा होनेवाला वैराग्य अस्थायी है, जैसे व्यक्ति को मिर्च अधिक खा लेने से जब तिक्तता की अनुभूति होती है, तब वह मिर्च खाना बन्द कर देता है, किन्तु जैसे ही उसके मुँह का जलना समाप्त होता है, वह फिर मिर्च खाने लगता है। इसी प्रकार घृणाजन्य वैराग्य की भी परिणति भोग में होती है।

महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का वर्णन करते हुए कहा है कि मनोनिग्रह की साधना में यम और नियमों का भी पालन करना पड़ता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान – नियम हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि – योग के ये अन्य छ: अंग हैं। इनके द्वारा साधक अपने चंचल चित्त को निरुद्ध कर सकता है। योग-वासिष्ठ के अनुसार सम्पूर्ण उपद्रवों के मूल इस संसार के दु:ख-नाश का उपाय मनोनिग्रह है –

संसारस्यास्य दु:खस्य सर्वोपद्रवदायिन: ।
उपाय एक एवास्ति मनस: स्वस्य निग्रह: । (४११)

और जब मन का निग्रह हो गया, तब कुन्दन की भाँति उसके शुद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

(८) निष्काम कर्म चित्तशुद्धि का एक महत्तम उपाय

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – हे अर्जुन, यदि तू योग के द्वारा समाधि लगाकर अपने चित्त को मुझमें स्थिर नहीं कर सकता है, तो अभ्यास कर। अभ्यास में भी यदि तू असमर्थ है, तो सभी कर्मों को मेरे निमित्त कर और यदि यह भी तुझसे नहीं होता, तो उन सभी कर्मों के फल त्याग दे। अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से सर्वकर्म-फलत्याग उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है (२/९-१२)। हे अर्जुन, तू जो कुछ करता है, खाता है, यज्ञ करता है, देता है और तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पित कर दे। इस प्रकार तू कर्मों के बन्ध से छूटकर मुझे ही प्राप्त करेगा (२/२७-२८)। जो व्यक्ति सारे कर्म परमात्मा को अर्पित कर आसक्ति को त्यागकर पूरा करता है, वह आत्मशुद्धि हेतु कर्म करनेवाला जल में स्थित कमल-पत्र की भाँति पापों से लिप्त नहीं होता (५/१०-११)।

(९) भगवद्भक्ति : मन की पवित्रता का परम उपाय

अन्त:करण की पवित्रता का असन्दिग्ध एवं सरलतम उपाय भगवद्भक्ति है। प्रभु के प्रति अनन्य अनुराग, अविचल श्रद्धा, अनन्त विश्वास, उसकी अहैतुकी कृपा के प्रति कृतज्ञता तथा सर्वात्मना समर्पण – भक्ति है। भगवान का भक्त किसी से द्वेष नहीं करता। सबका मित्र है, सबके प्रति सहानुभूति रखता है। वह आसक्तिरहित, निरहंकार, दु:ख-सुख में समान, क्षमाशील,

सन्तुष्ट, संयमी, दृढ़निश्चयी, निष्काम, शुचि तथा कमलवत् तटस्थ रहता है। वह सर्वत्र प्रभु का दर्शन करनेवाला मान-अपमान में सम और स्थितप्रज्ञ होता है। उसके हृदय में भक्तिरूपी चारु चिन्तामणि विराजित रहती है। अतः काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि नहीं भटकाते। मानस-रोग नहीं होते –

खलकामादि निकट नहिं जाहीं।
बसइ भगति जा के उर माहीं।।
व्यापहिं मानस रोग न भारी।
जिनके बस सब जीव दुखारी।।

जिससे प्रभु शीघ्र द्रवित होते हैं, वह भक्ति है। वह स्वतंत्र है। ज्ञान-विज्ञान उसके अधीन हैं –

जाते वेगि द्रवउँ मैं आई।
सो मम भगति भगत सुखदाई।।
सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि आधीन ज्ञान-विज्ञाना।।

बिना भक्ति के मनुष्य जल-विहीन मेघों के सदृश है। मन में तभी तक लोभ-मोहादि खलों का निवास होता है, जब तक प्रभु का निवास नहीं होता। भगवान की शरण में पहुँचा हुआ व्यक्ति सर्वथा निष्पाप एवं निष्कलुष हो जाता है। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का मल शेष नहीं रहता। उसका कभी विनाश नहीं होता (९/३)। भक्त ही भगवान को तत्त्वतः जान और देख सकता है (११/५४)। जो अपने मन को परम श्रद्धा से परमात्मा में लगाकर उसकी नित्य उपासना करता है, वही परम योगी है। वह तीनों गुणों का अतिक्रमण कर जन्म, मरण और बुढ़ापा आदि दुःखों से मुक्त हो अमरता का उपभोग करता है (१४/२०-२६)। श्रीमद्भागवत (११/१४/१८) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

बाधमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते।।

– "मेरा अजितेन्द्रिय भक्त विषयों के द्वारा विवश किया जाता है। फिर भी मेरी प्रगल्भ भक्ति उसे उन विषयों से पराजित नहीं होने देती।"

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः।। (११/१४/१९)

– "हे उद्धव, जैसे अग्नि ईंधन को जला देती है, वैसे ही मेरी भक्ति समस्त पापों को नष्ट कर देती है।" भक्ति प्राकृतिक धारा का अनुकूल प्रवाह है, जबकि योग उस प्रवाह का प्रतिरोध है, जिसके फूटने की शंका सदैव रहती है।

भारतीय चिन्तकों ने सभी गुण-दोषों का मूल मन को ही स्वीकार किया है। मन के अतिरिक्त ऐसी किसी भी अन्य सत्ता को नहीं माना है, जो हमें सन्मार्ग से विचलित करती है, जैसे कि अन्यत्र 'शैतान' की कल्पना करके उसी पर पापों की ओर प्रेरित करने का दोष आरोपित किया है। बुराइयों का कारण खोजने का यह बहिर्मुखी प्रयास दृष्टि का भटकाव है, क्योंकि पापों में प्रवृत्त करानेवाला हमारा मन ही है। अशुद्ध होने पर यदि वह पापकर्मों का कारण है, तो शुद्ध होने पर मुक्ति का भी सेतु है। शास्त्रों में इसकी शुद्धि के जितने भी उपाय वर्णित हैं, उनमें आपस में कोई विरोध नहीं है। सभी मार्गान्वेषण की प्रक्रियाएँ हैं, जिनमें अन्योन्याश्रयता है। सभी का लक्ष्य एक ही है कि चित्त को कैसे निर्मल किया जाय, क्योंकि शुद्ध चित्त में ही मानवीय गुणों का पुष्प खिलता है और उसी में परमात्मा प्रकट भी होते हैं। पशुता के धरातल से देवत्व की उच्चता तक के आरोहण की प्रथम सीढ़ी है अन्तःकरण की पवित्रता। यदि हमारा मन पवित्र है, तो अभय का वरदान हमें स्वतः प्राप्त है। चित्त की शुद्धता के बिना निर्भीकता का आगमन सम्भव नहीं है। प्रसन्नता और मानसिक तनावों से मुक्ति मन की निर्मलता पर ही निर्भर है। भगवान कृष्ण ने दैवी सम्पत्तियों में 'अभयम्' के अनन्तर चित्तशुद्धि को दूसरे ही क्रम पर रखा है, जो सर्वथा तर्कसंगत और वैज्ञानिक है, क्योंकि मन के निर्मलीकरण से पूर्व मृत्यु आदि के भय से मुक्त होना अनिवार्य है। हमारी सम्पूर्ण साधनाओं का उद्गम तथा लक्ष्य चित्तशुद्धि है। यह मलहीन दर्पण है, जिसमें हमारी मनुष्यता, मानवीय संवेदना और भागवती चेतना प्रतिबिम्बित होती है। हमें चाहिए कि हम अपना यह दर्पण सदा स्वच्छ रखें। ❖ (क्रमशः) ❖

अलवर में स्वामी विवेकानन्द (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला मे प्रस्तुत है – विविध स्रोतो से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

महात्मा के दर्शनार्थ गमन

एक दिन स्वामीजी ने एक व्यक्ति से पूछा कि अलवर में कोई साधु रहते हैं क्या? उन्होंने बताया कि एक निष्ठावान ब्रह्मचारी निकट ही रहते हैं। स्वामीजी ने कहा, "तो फिर मुझे वहाँ ले चलो, उनका दर्शन करा दो।" दोनों उन ब्रह्मचारी के आश्रम में गए। स्वामीजी के उनके निकट जाकर प्रणाम करने तथा बैठ जाने पर ब्रह्मचारी कहने लगे, "तुमने गेरुआ क्यों पहन रखा है? मैं गेरुआ पहने संन्यासियों को फूटी आँखों से भी नहीं देख सकता।" यह कहकर संन्यासी-कुल पर अजस्र गालियाँ बरसाने के बाद वे स्वामीजी से पुन: बोले, "अच्छा, जाने दो, तुम कुछ खाओगे? तुम्हारे ऊपर मेरा वैसा क्रोध नहीं है।"

स्वामीजी ने हाथ जोड़कर कहा, "जी नहीं, अभी-अभी भिक्षा करके आया हूँ, अभी और कुछ खाने की जरूरत नहीं है। आप कृपा करके कुछ तत्त्व की बातें कहिए, मैं सुनूँ।"

ब्रह्मचारी जी बड़े क्रोधपूर्वक बोले, "तो फिर दूर हो जा, कुछ खाएगा नहीं तो दूर हो जा।" स्वामीजी ने पुन: प्रणाम करके प्रस्थान किया। जो स्वामीजी को साधु-दर्शन कराने ले गए थे, वे स्वामीजी का ऐसा अपमान देखकर बड़े क्षुब्ध एवं भीत होकर सोच रहे थे कि स्वामीजी शायद उनके ऊपर बड़े नाराज हुए होंगे। परन्तु इस घटना पर स्वामीजी को नाराजगी के स्थान पर इतना मजा आया था कि वे बाद में खूब हँसे। जब तक वे ब्रह्मचारीजी के पास रहे, तब तक बड़े कष्टपूर्वक उन्होंने अपनी उफनती हँसी को दबाए रखा था। रास्ते में थोड़ी दूर आ जाने के बाद वे अपने को रोक नहीं सके और ऐसे हँस पड़े कि उनका संगी हँसी का कोई कारण न समझ पाकर भी, उसी प्रवाह में पड़कर हँसने लगा। बाद में और भी थोड़ा-सा रास्ता तय करने के बाद स्वामीजी कह उठे, "अच्छा साधु दिखाया भाई ! गाली-गलौज की क्या धार है ! यह कह-कहकर वे बारम्बार विनोद करने लगे और उन ब्रह्मचारी के समान नकल उतारकर स्वयं हँसने लगे और उससे भी अधिक अपने संगी को हँसाने लगे।

उनके असीम ईश्वर-प्रेम, अपार अविच्छिन्न आनन्द और सबके प्रति अगाध स्नेह ने सभी का मन मोह लिया। जो लोग उनके पास प्रतिदिन आया करते थे, उनमें से यदि किसी दिन कोई अनुपस्थित रहता तो स्वामीजी यह सोचकर उसकी चिन्ता में आकुल हो जाते कि वह क्यों नही आया, कहीं किसी विपत्ति में तो नहीं पड़ गया ! किसी के माध्यम से उस व्यक्ति की खोज-खबर लेने के बाद ही वे निश्चिन्त हो पाते।

शिष्य से वार्तालाप

स्वामीजी अलवर में करीब दो माह बिता चुके हैं और अब यहाँ से प्रस्थान करने की सोच रहे हैं – यह सुनकर उनके एक शिष्य (सम्भवत: लाला गोविन्द सहाय विजयवर्गीय) ने भिक्षा हेतु उन्हें अपने घर आमंत्रित किया। स्वामीजी जब उनके घर पहुँचे, उस समय वे स्नान कर रहे थे। स्वामीजी के बैठ जाने पर शिष्य ने प्रश्न किया, "बाबाजी, "शरीर पर तेल मलने से क्या कोई लाभ है?" स्वामीजी बोले, "जरूर है। अच्छी तरह मलने पर छटाक भर तेल से पाव भर घी खाने का फल होता है।"

आजीविका की समस्या

भोजन आदि के पश्चात् विभिन्न विषयों पर वार्तालाप के दौरान शिष्य ने पूछा, "स्वामीजी महाराज, आप कहते हैं कि हमें चरित्र की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए – सत्यनिष्ठ, निश्छल, परोपकारी, कर्मठ और असीम साहसी होना चाहिए; यह सब हुए बिना गृहस्थ स्वधर्म नहीं कर सकता, चित्तशुद्धि नहीं होती। परन्तु नौकरी करना तो दासता है, मेरा अनुभव है कि उससे यह सब भाव नहीं आता। अत: सोचता हूँ कि हम लोगों को तो धनोपार्जन करना होगा, नहीं तो फिर निष्काम कर्म का अनुष्ठान कैसे करेंगे? आजकल व्यवसाय की जैसी अवस्था हो गई है, इसमें तो काफी समस्या है। मुझे लगता है कि इसमें काफी पूँजी की आवश्यकता है, और फिर उसमें सरलता भी नहीं रहती। सो महाराज, कौन-सा काम करने पर सब कुछ ठीक रखा जा सकता है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "देखो, इस विषय में मैंने भी काफी विचार किया है। परन्तु मैंने देखा है कि चरित्र बनाए रखकर धनोपार्जन करने में लोगों को रुचि नहीं है, इस विषय पर कोई विचार नहीं करता, किसी के मन में कोई समस्या नहीं उठती, हमारी शिक्षा-प्रणाली में दोष के कारण ही ऐसा हुआ है। जो भी हो, सोच-विचार करके मैं तो खेती-बारी को ही बड़ा अच्छा मानता हूँ। खेती-बारी की बात करते ही अब लगता है – 'तो फिर पढ़ने-लिखने की क्या जरूरत थी?' खेती-बारी की बात करते ही सर्वप्रथम मन में आता है, 'तो क्या देश भर के लोगों को फिर किसान ही बनाना होगा? देश भर के लोग तो किसान हैं ही, इसीलिए तो हमारी इतनी दुर्गति हो रही है।' मगर बात ऐसी नहीं है। महाभारत पढ़कर देखो। **जनक ऋषि एक हाथ से हल चला रहे हैं और दूसरे हाथ से वेदों का अध्ययन कर रहे हैं।** हमारे देश के सभी ऋषियों ने ऐसा ही किया है। और फिर आजकल देखो, अमेरिका खेती-बारी करके ही इतना बड़ा हुआ है। निहायत देहाती बुद्धि से खेती-बारी नहीं, विद्वान्-बुद्धिमान की बुद्धि से यह करना होगा। गाँव के लड़के दो शब्द अँग्रेजी पढ़कर शहर में भाग आते हैं। गाँव में उनकी काफी जमीन है, पर उससे उनका पेट नहीं भरता, मन की तृप्ति नहीं होती। उन्हें लगता है कि शहरी बनना होगा, नौकरी करनी होगी। इसलिए हमारी हिन्दू जाति अन्य जातियों के समान समृद्ध नहीं हो पा रही है। हम लोगों की मृत्यु-दर इतनी अधिक है कि यदि इसी प्रकार जन्म-मृत्यु चलता रहा, तो फिर हम लोग मरने की राह पर हैं। इसका एक कारण यह है कि उत्पादन ठीक परिमाण में नहीं हो रहा है, शहर में रहने की ओर रुझान अधिक है और थोड़ा पढ़-लिखकर ही किसान का लड़का स्वधर्म छोड़कर अंग्रेजों की गुलामी करने दौड़ता है। ग्राम्य परिवेश में रहने पर आयु बढ़ती है, रोग तो प्राय: होते ही नहीं। पढ़े-लिखे लोग गाँवों में निवास करें, तो छोटे-मोटे खराब गाँव अच्छे हो जाते हैं और विज्ञान की सहायता से खेती-बारी करने से उत्पादन अधिक होता है, किसानों की आँखें खुल जाती हैं, उनकी भी थोड़ी-बहुत बुद्धि खुलती है, पढ़ने-लिखने की इच्छा होती है और वह भी होता है, जिसकी हमारे देश को सर्वाधिक आवश्यकता है।"

शिष्य ने आग्रहपूर्वक पूछा, "वह क्या, स्वामीजी?"

सामाजिक समरसता

स्वामीजी पुन: कहने लगे, "छोटी जातियों और बड़ी जातियों के बीच भाई-भाई के भाव से ही मेल-जोल होता है। यदि तुम्हारे समान लोग कुछ पढ़ना-लिखना सीखकर, गाँवों में रहकर खेती-बारी करें और किसानों के साथ अपनत्व का व्यवहार करें, घृणा न करें, तो देखोगे कि वे लोग इतने वशीभूत हो जाएँगे कि तुम्हारे लिए प्राण देने को प्रस्तुत हो जाएँगे। इस समय जिस चीज की हमें परम आवश्यकता है, वह है – जनसाधारण की शिक्षा, छोटी जातियों में धर्म के ऊँचे-ऊँचे भाव देना, आपसी प्रेम, सहानुभूति तथा भलाई करना सिखाना, वह भी अत्यल्प प्रयास से ही शुरू होगा।"

शिष्य ने फिर कहा, "वह किस प्रकार होगा?"

स्वामीजी बोले, "क्यों, देखो न गाँव में छोटी जातियों के साथ थोड़ा-थोड़ा मेल-जोल करने से वे लोग कितने आग्रह-पूर्वक भद्र लोगों का संग करना चाहते हैं। ज्ञान की पिपासा सभी मनुष्यों के भीतर है। इसीलिए तो एक भद्र व्यक्ति को पाकर उसे घेर कर लोग बैठ जाते हैं और उसकी बातें सुनते हैं। ये लोग इस अवसर का लाभ उठाकर यदि अपने घर में वैसे ही उनको संध्या के समय एकत्र कर वार्तालाप के माध्यम से शिक्षा देना आरम्भ करें, तो राजनैतिक आन्दोलन करके हजार वर्षों में जो किया नहीं जा सकता, उसके सौ-गुना अधिक फल दस वर्ष के भीतर ही हो जाएगा।"

शिष्य ने क्षण भर सोचकर फिर पूछा, "तो फिर महाराज, ऐसे लोगों की भी तो बड़ी आवश्यकता है?"

स्वामीजी बोले, "लोग तो बहुत हैं – बस शिक्षित लोगों के मस्तिष्क में यह बात घुसा देनी चाहिए; केवल समाचार-पत्रों में राजनैतिक हलचल या गुलगपाड़ा मचाने से कुछ नहीं होगा। जो लोग केवल वही आन्दोलन करते हैं, उन्हें ये सब बातें भी जानना चाहिए। युवावर्ग को यह भी समझा देना होगा और वे लोग ऐसे कार्यों में लग जायँ, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। नहीं तो फिर, एक आन्दोलन का समय हुआ, तो दो-चार बातों की भाषण झाड़ दी। उसके बाद जो होना हो सो हो, मैं तो वाहवाही ले आया, इससे क्या कोई उन्नति होती है? इसके बाद उनमें से दो-एक जन को ऐसे कार्य आरम्भ करके दिखाना चाहिए। व्यावहारिकता की बड़ी जरूरत है। उसी का इस देश में अभाव है, केवल आन्दोलन ही उसे लाने का उपाय नहीं है। **लोग काम देखकर काम करना सीखते हैं**, नहीं तो क्या केवल बातों से कार्य करना सीखते हैं? जो केवल बातों से कार्य कराना चाहता है, वह तो गुलाम के ऊपर गुलाम बनाना चाहता है। जो जैसी शिक्षा देना चाहता है, उसे वैसे ही कार्य करके दिखाना चाहिए, तभी लोग सीखते हैं। यही जगत् का नियम है।"

शिष्य ने कहा, "ठीक है महाराज, इसीलिए इस देश के लोगों ने व्याख्यान सुन-सुनकर केवल व्याख्यान देना ही सीखा है; क्योंकि आन्दोलन के नाम पर बस भाषण झाड़ना तथा अखबारों में लिखना ही हो रहा है, और कुछ नहीं।"

शिष्य ने थोड़ा विचार करके पुन: कहा, "मैंने सोचकर देखा है कि नौकरी करके मैंने बड़ा अनुचित किया है, बड़ी

गल्ती की है, यह सोचकर बीच-बीच में कष्ट होता है।''

स्वामीजी बोले, ''देखो, जीवन संग्राम में जो हार जाता है, वही पीछे की ओर देखता है। पीछे की ओर देखने से क्या होगा? बस सामने की ओर कुछ दिखाई नहीं देगा। इसीलिए निरन्तर सामने की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। यदि किसी ने एक पाप कर डाला है, तो उसी को सोचकर रोने से क्या पाप ठीक हो जाएगा? उसे अच्छे कार्यों का अनुष्ठान करना होगा। हार तो होती ही है। जो हारता नहीं, उसे कोई शिक्षा भी नहीं मिलती। अत: हार को बिल्कुल निष्फल न समझकर, उससे जितनी शिक्षा मिलती हो, उसे लेकर आगे बढ़ जाना चाहिए। और सोच-समझकर, अच्छी तरह समझ-बूझकर, जिस कार्य पर अच्छा होने का विश्वास होगा, उसकी सिद्धि के लिए प्राणपण से उसी कार्य में लग जाना चाहिए। फिर यदि उस कार्य को करने में यदि प्रारम्भ में ही दो-एक जोर का धक्का लगे, तो हार मानकर पलायन कर जाना बड़ा ही गलत है, महापाप है। फिर यदि उसमें बारम्बार असफलता हाथ लगे, यदि सर्वस्व का नाश होकर अन्त में प्राण भी चला जाय, तो वह भी अच्छा है। संकल्प करके कार्य में उतरना चाहिए, तभी कर्म सिद्ध होता है।''

ब्राह्मण-बालक का उपनयन

अलवर-प्रवास के दौरान एक निर्धन ब्राह्मण बालक भी उनके पास आया करता था। वह उन्हें गुरु के समान श्रद्धा करता और स्वामीजी का भी उसके प्रति बड़ा स्नेह-भाव था। एक दिन पूछताछ करने पर स्वामीजी को पता चला उपनयन संस्कार की आयु पार हो जाने के बावजूद उसका यह संस्कार नहीं हो सका है। कारण के रूप में उसने बताया कि जब पेट के लिए अन्न ही नहीं जुटता, तो फिर उपनयन संस्कार भला कैसे होगा! अब स्वामीजी को उसी की चिन्ता लगी रहती थी। जो भी आता, उसी को वे उस ब्राह्मण बालक का पूरा वृत्तान्त सुनाकर कहते कि सब लोग चन्दा एकत्र कर उसका उपनयन करा दें। एक दिन सबके आ जाने पर उन्होंने कहा, ''देखिए, मेरी एक भिक्षा है। गृहस्थ होने के कारण ही आप लोगों का यह विशेष कर्तव्य है कि चन्दा इकट्ठाकर इस लड़के का उपनयन कराइए। ब्राह्मण का लड़का अपढ़ होकर घूमता है, यह अच्छा नहीं। यदि उसके लिए विद्या सीखने की कोई व्यवस्था हो जाय, तो बड़ा अच्छा होगा।'' यह सुनकर भक्तगण इसके लिए आपस में चन्दा करने में जुट गये, परन्तु इसके कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी अलवर से विदा हो गये थे। तथापि वे यह बात भूले न थे और एक महीने बाद ही आबू पर्वत से उन्होंने अलवर के मित्रों में से एक – लाला गोविन्द सहाय (१८६६-१९२५ ई.) को जो प्रथम पत्र लिखा, उसे पढ़कर पता चलता है कि वे तब भी उक्त ब्राह्मण बालक की बात भूले न थे। उस पत्र को हम आगे उद्धृत करेंगे। स्वामीजी ने इस पत्र में प्रत्येक का नाम लेकर पूछा है कि कौन कैसा है और किस प्रकार पार्थिव तथा आध्यात्मिक उन्नति कर रहा है। परन्तु सर्वप्रथम उन्होंने पूछा है कि उस निर्धन बालक का उपनयन हुआ या नहीं!

अलविदा अलवर

अगले दिन २८ मार्च को स्वामीजी ने अलवर से विदा ली। उनके मित्रों में से बहुतों ने बड़ी कठिनाई से अपने आँसू रोके। वे लोग अलवर से अट्ठारह मील दूर स्थित पाण्डुपोल नामक स्थान की ओर चले। स्वामीजी की इच्छा पैदल चलने की थी, परन्तु भक्तों तथा मित्रों ने अनुरोध किया कि सूर्य का प्रखर ताप और अकेलेपन से बचने के लिए उनके लिए 'रथ' नामक एक तरह की ढँकी हुई बैलगाड़ी पर चढ़कर जाना ही उचित होगा, तो वे उन लोगों की बात टाल नहीं सके। इतना ही नहीं, इन अनुरागी भक्तों ने कम-से-कम पचास-साठ मील तक उनके साथ चलने की अनुमति भी माँगी।

पाण्डुपोल में हनुमान जी का दर्शन

छह-सात घण्टे की रथयात्रा के बाद वे पाण्डुपोल पहुँचे। यहाँ **हनुमान जी का एक सुप्रसिद्ध मन्दिर है**, जहाँ प्रति वर्ष एक बहुत बड़ा मेला लगता है। गाँव में पहुँचते ही स्वामीजी तत्काल मन्दिर की ओर अग्रसर हुए। मूर्ति का दर्शन करते समय उनके मन में रामायण की वे कथाएँ जाग्रत हो उठीं, जो बचपन से ही उन्हें रोमांचित, पुलकित तथा अनुप्राणित करती रही थीं। थोड़ी देर तक वे महावीर जी की प्रतिमा के सम्मुख मौन बैठकर ध्यान करते रहे। हनुमान जी का दर्शन करने के बाद, उस रात, उन सभी लोगों ने उसी मन्दिर के प्रांगण में विश्राम किया।

टाहला के नीलकण्ठ महादेव का दर्शन

अगले दिन प्रात: उन लोगों ने बैलगाड़ी को वापस भेज दिया और स्वामीजी के साथ पैदल ही वहाँ से सोलह मील दूर स्थित टाहला गाँव की ओर चल पड़े। वन्य पथ बड़ा ही दुर्गम था, चारों ओर पर्वत-श्रेणियाँ और हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण जंगल है। स्वामीजी चलते-चलते कभी सुमधुर भजन गाते और कभी रसपूर्ण बातें करते हुए सबके साथ उच्च हास्य से वन को प्रतिध्वनित कर देते। बीच-बीच में यह टोली किसी झरने के किनारे या किसी विशाल वृक्ष के नीचे ठहरकर विश्राम करती या गहरे ध्यान में डूब जाती। इस प्रकार उन लोगों ने बड़े आनन्दपूर्वक सोलह मील का रास्ता तय किया और टाहला जा पहुँचे।

टाहला में नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में दर्शन आदि करने के बाद उन लोगों ने मन्दिर के पास ही रात बिताई।

इस विश्राम के दौरान स्वामीजी ने उन्हें देवासुर-संग्राम, समुद्र -मन्थन, विष की उत्पत्ति, विषपान करके महादेव का मृत्युंजय नाम पाना आदि कथाओं की एक नवीन व्याख्या सुनाई।

नीलकण्ठ महादेव के बारे में प्रचलित कथा इस प्रकार है – एक बार देवताओं की महिमा धूमिल होने लगी। वे लोग इसकी पुन: स्थापना का उपाय पूछने के लिए भगवान विष्णु के पास गये। विष्णु ने देवताओं को समुद्र-मन्थन की सलाह दी। इसके लिए मेरु पर्वत को मथानी, शेषनाग को रस्सी और भगवान कच्छप को आधार बनाया गया। देवताओं ने शेष नाग की पूँछ और असुरों ने उनका सिर पकड़कर मेरु पर्वत से लपेटा और उसे कच्छप की पीठ पर रखकर समुद्र -मन्थन आरम्भ किया। थोड़ी देर बाद उसमें से अनेक अद्भुत चीजें निकलने लगीं – भव्य ऐरावत हाथी, सुन्दर रथ, विशाल घोड़ा, एक सुन्दर नारी, एक अमूल्य रत्न। देवताओं तथा असुरों में से, जिसके जो भी हाथ आया, उस पर अधिकार जमाने लगा। इसके बाद सहसा समुद्र से काले रंग का हलाहल विष निकला, जिसके गन्ध मात्र से ही सभी जीवों के प्राण निकलने लगे। देवताओं तथा असुरों – दोनों के समक्ष यह समस्या खड़ी हुई कि कैसे इस हलाहल विष से छुटकारा पाकर अपनी प्राणरक्षा की जाय। देवता लोग भागकर भगवान विष्णु के पास गये। वे बोले कि इस संकट से केवल महादेव शिव ही उनकी रक्षा कर सकते हैं।

महादेव अब तक समुद्र से निकलने वाली भोग्य वस्तुओं से पूर्णत: उदासीन कैलाश पर्वत पर बैठे ध्यान में डूबे थे। सहायता की पुकार सुनकर उनका ध्यान टूटा और वे उठकर समुद्र के पास आये। उन्होंने देवताओं को शान्त किया और विष को ग्रहण करने के लिए अपनी अंजली फैला दी। बड़े आश्चर्य की बात है कि वह सारा विष उनकी अंजली में एकत्र हो गया। अंजली को उन्होंने अपने मुख से लगाया। असुरों ने सोचा कि महादेव की तत्काल मृत्यु हो जायेगी। शिवजी ने सभी जीवों की रक्षा हेतु अपना जीवन दाँव पर लगाकर वह पूरा विष पी लिया। जो विष देवताओं, असुरों तथा विश्व -ब्रह्माण्ड के अन्य सभी जीवों का नाश करने में सक्षम था, महादेव के गोरे कण्ठ पर एक नीला चिह्न मात्र छोड़ गया। परन्तु वह चिह्न भी उनके लिए एक आभूषण बन गया। इसी कारण महादेव शिव को 'नीलकण्ठ' नाम मिला। और इसीलिए उन्हें 'मृत्युंजय' नाम भी मिला।

स्वामीजी ने इस कथा का तात्पर्य बताते हुए कहा – "यहाँ समुद्र का अर्थ है मायारूपी समुद्र। रूप-रस-गन्ध आदि से बना यह वैचित्र्यमय जगत् माया की रचना है। इस ब्रह्माण्ड में रहनेवाले सारे जीव मानो जीवन-रूपी समुद्र का मन्थन करते हैं। इससे उन्हें इन्द्रियों को रुचनेवाली भोग्य वस्तुओं के रूप में असंख्य रत्न मिलते हैं। परन्तु शीघ्र ही उनके समक्ष मृत्यु-रूपी विष भी प्रकट हो जाता है। परन्तु भूमानन्द में डूबे संन्यासी इन विषयों से सबसे दूर रहते हैं। माया के किसी भी मोहक उपहार की वे कामना नहीं करते, बल्कि वे देवाधिदेव महादेव की भाँति इन्द्रिय-भोग-परायण जीवों की मृत्यु आदि भयावह अवस्थाओं में उनकी सहायता करते हैं और उनके उद्धार के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देते हैं। वे (संन्यासी) माया का विनाश करके मृत्यु के मुख से जगत् की रक्षा करते हैं और सबको दिखा देते हैं कि मायाजयी लोग मृत्यु को भी जीत लेते हैं।" – इतना कहने के बाद स्वामीजी कुछ काल के लिए देवाधिदेव महादेव के विग्रह के समक्ष ध्यानमग्न हो गए।[१]

नारायणी देवी का दर्शन तथा बसवा

दूसरे दिन प्रभात में पुन: यात्रा आरम्भ हुई और यथासमय वे लोग अट्ठारह मील दूर स्थित 'नारायणी' नामक एक देवी के स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ प्रति वर्ष एक विशेष दिन एक बृहत् मेला लगा करता है, जिसमें राजपुताना के काफी दूर-दराज तक के लोग भाग लेने आकर इन जाग्रत देवी की पूजा किया करते हैं। वह रात वहीं बिताने के उपरान्त अगले दिन प्रात:काल स्वामीजी ने अलवर से आये अपने सभी मित्रों से विदा ली और एकाकी सोलह मील का रास्ता पार करके बसवा नामक रेलवे स्टेशन पर उपस्थित हुए।

बसवा से जयपुर की ओर

बसवा से जयपुर तक का ६३ मील का रास्ता पार करने के लिए वे ट्रेन में सवार हुए। थोड़ी दूर पर स्थित बाँदीकुई नामक स्टेशन पर उनका अलवर का एक पूर्व-परिचित भक्त उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह भी स्वामीजी के साथ जयपुर जाने के लिए ट्रेन के उसी डिब्बे में सवार हुआ। गाड़ी जयपुर की ओर चल पड़ी। ❖ **(क्रमशः)** ❖

(अगले अंक में अलवर के भक्तों का अल्प परिचय, लाला गोविन्द सहाय से पत्र-व्यवहार और अलवर के परवर्ती राजा जयसिंह का रामकृष्ण मिशन को सहयोग)

१. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, तृतीय सं., पृ. २६६-७० तथा Life of Swami Vivekananda, Vol. 1, Ed. 1913, p. 144